एकायन

एकायन

('८८ में प्रकाशित रचनाएँ)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

निराला निकेतन

मुजफ्फरपुर--१

अपनों से अधिक अपने

श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' को, २ जनवरी '८९ को

उनके अस्सीवें वसन्त में प्रवेश के अवसर पर—

निराला निकेतन,

मुजफ्फरपुर–१

१४ जून '८९

अथ श्री

केवल यथार्थ साहित्य का विषय है, ऐसा मेरा मन नहीं मानता। केवल यथार्थ सत्य होता है तो हो, शिव भी हो सकता हो तो हो; किन्तु वह सुन्दर भी हो, यह आवश्यक नहीं है।

साहित्य में जो सहित का भाव है उस भाव में बेभाव की पड़ जाएगी यदि केवल यथार्थ को कस कर पकड़े रहा जाए। यथार्थ का ज्ञान ही होता है, सौन्दर्य्य और आनन्द के उससे भिन्न आयाम हैं। आग की जानकारी एक बात है, किसी का अगियाबैताल होना जानकारी ही नहीं है।

साहित्य में भाव की पूजा होती है। ज्ञान-विज्ञान अपनी राह चलते हैं। ललित कला और उपयोगी कला की तरह रस-भाव-भरा साहित्य जहाँ ललित या आनन्ददायक होता है, वहाँ वैज्ञानिक साहित्य केवल ज्ञानवर्द्धक और उपयोगी।

आनन्द आवश्यक है।

यों तो मानव मात्र एक ही जाति है; किन्तु एक जाति के साहित्य से दूसरी जाति का साहित्य हू-ब-हू मेल नहीं खाता। आंशिक एकता की ही दुहाई दी जाती रही है। नारे लगाना साहित्य सिरजना नहीं है। फिर नारे चाहे अध्यात्मवाद के हों, चाहे भौतिकवाद के।

कुछ ऐसी ही अटपटी समझ और सूझ, जानबूझ कर की हुई भूल-चूक की तरह, मेरे इस संकलन में भी उजागर हुई है। सृष्टि की सृष्टि और संहार के संहार के समान ही इसमें मेरा भी नया-पुराना है।

१४ जून '८९

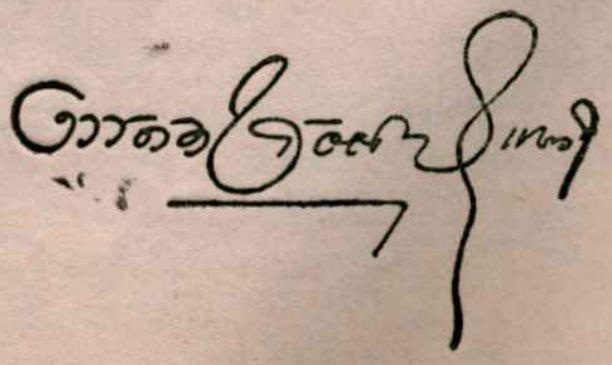

ग़ज़ल

बाँकपन पहचान है, मेरी सिफारिश हो, न हो
सरसब्ज होने से रहा, बंजर में बारिश हो न हो !

हो बड़े ऐंठे, अरे, गहरे कभी पैठे नहीं,
उठा लाल घुआँ, हरे पानी में आतिश हो न हो !

दूध-लावा, क्या चढ़ावा ! साँप होते खुशनसीब,
फन झुका चखते अमृत हैं; अमृत में विष हो न हो !

गीध मण्डल बाँधते, चीले हैं चिल्ला बाँधती,
कुछ ठठरियाँ तो पड़ी हैं, शुद्ध आमिष हो न हो !

भीड़ होगी, लोग मारे फिर रहे सड़कों पे हैं,
बज्मेमय में उनकी शिरकत की गुजारिश हो न हो !

टीसता नासूर-सा है, आगे छोटा-सा था जख्म,
वक्त का नश्तर ! खुला सर्जन का आफिस हो न हो !

पूर्वजों की हर धरोहर हैं बचाते आ रहे,
फिर गढ़ेंगे रूढ़ियाँ, अब कोई वारिस हो न हो !

भाट हूँ मैं लाट साहब के सदर दरबार का,
मैं कहूँगा, आपको सुनने की ख्वाहिश हो न हो !

ग़ज़ल

मेरे अश्क को क्यों किसी ने न जाना ?
वो सैलाब का सुर, गगन का तराना !

बड़ी सख्त खामोशियाँ ज़िन्दगी की,
कजा साँस लेने का लहजा पुराना !

करे कोई आजाद तो किसको-किसको
यहाँ ज़िन्दगी - ज़िन्दगी क़ैदखाना !

बँधे किससे शाहीन मन ? आह ! जिसने --
कफस तो कफस, आसमाँ को न माना !

लगी आग, रौशन हुआ तब अँधेरा,
न था चाँद-तारों का आगे ठिकाना !

किसी के न क़दमों में था सर झुकाया,
किया काम क्या ? क्यों मिले मेहनताना ?

न सैयाद-सा दीदवर गुलसिताँ में,
जो खुशबू उड़ी, तीर बुलबुल पे ताना !

न उनवाँ तुम्हारे सितम का है बदला,
नया दौर सुन ले पुराना बहाना !

शरारे हैं, अङ्गार हों भी तो कैसे ?
न पुरआब आँखों ने सीखा जलाना !

शमा जल न पाई, शमा बुझ न पाई !
सँभलते - सँभलते पड़ा लड़खड़ाना

मचाते हैं क्यों शोर ग़म खानेवाले ?
ये कैदी कफस के ! इन्हें आबोदाना ?

कलम है अगर हाथ में, ज़िन्दगी लिख,
नहीं काम अपना है परचम उड़ाना !

नुमायाँ नहीं रंग मुझ पे किसी का,
मेरी जोस्त को ख़ाक समझे जमाना !

कोई खार खाए, कोई गुल खिलाए,
न था कब चमन में मेरा आशियाना !

★

ग़ज़ल

रोशनी तेज, रोशनी मद्धम,
किस अँधेरे को रोशनी का ग़म !

तेज़ रफ्तार है जमाने की,
जाने किस ओर जा रहे हैं हम।

रोज़ मञ्जिल क़रीब दिखती है,
गर्द भर देते हम बढ़ा के क़दम !

पैरवी की पहुँच कहाँ तक है,
चाँद-सूरज के उड़ रहे परचम !

रात भर हँस रही थी फूलों में,
क्यों सुबकने लगी सुबह शबनम ?

अब्र बेसब्र, बिजलियाँ बेताब,
आसमाँ क्यों खमोश है ताहम।

तख्त खाली न रहे लङ्का का,
एक क्या, देंगे सौ विभीषण हम !

खून के धब्बों में खिले हैं गुलाब,
क्या खिजाँ, क्या बहार का आलम !

आँख का काँटा हो गया सरताज,
देखना फूल का है अब दम-खम

एक दम पर हवा पलट ही दी,
क्या कयामत का जोश है हमदम।

लो, हवाले किया चमन, अब तो—
खुश हो ऐ नौ बहार के मौसम ?

रोशनी रो पड़ी अँधेरे में,
देख पाई हवा न, यह क्या कम ?

आग उगलें जले-कटे खुद से,
होने दो गर मेरी कलम पुरनम !

—()—

एक संस्कृत ग़ज़ल

निःस्वं निरात्म विश्वमिदं पाति भारतम् !
मैत्रीस्पृशा दृशाऽस्ति जितारति भारतम् !!

आधाय धवलधारमुरसि तार-हारवत्
गङ्गातरङ्गभङ्गशिवं भाति भारतम्

कुसुमं न यद् विकासमितं गन्धवद्भुवि,
तस्मै स्पृहां प्रदर्श्य नभो माति भारतम् !

दूर्वाऽपि चन्दनायते काशोऽपि कुश-समः
उच्चावचं परीक्ष्य पुरोयाति भारतम् !

विज्ञानमानदृप्तमतृप्तं स्तृतं जगत्
जीवातुमखिलतर्पणं प्रददाति भारतम् !

अग्रेसरं मनो निधाय न्यस्यते पदम्
जागर्ति जनः, प्रेक्षते, प्रीणाति भारतम् !

मुक्तजी : अस्सीवें साल में

मुक्त हैं तो केवल लेखन की प्रतिबद्धता से, यों उन्हें सौ साल तक हमारे लिए स्वस्थ प्रतिश्रुति से यों बँधा रहना है जैसे राग स्वर और लय से बँधा रहता है; जैसे वसंत के पंख रंग और गंध से बंधे रहते हैं।

२ जनवरी को मुक्त जी ८०वें साल में प्रवेश कर गए; नहीं, अस्सी सीढ़ियों की ऊंचाई पर पहुंच गए। संसार की चक्करदार घाटियों से बच-बचा कर रमता राम बनना और है, घर-बार बसा कर, उसके सौ-सौ बन्धनों में मुक्त रहना और। मुक्त जी एक ऐसे ही कर्मठ अध्यवसायी और जीवन्मुक्त व्यक्ति हैं। उन्होंने पाँव-पाँव चल कर ऊँचाई अर्जित की है, वह उन्हें उपहार में नहीं मिली। कर्मठता ने उन्हें प्रत्यक्ष अभिज्ञता और आत्मानुभूति के प्रदीप्त आलोक में उज्ज्वल जीवन दिया है। वह अबतक कुछ न कुछ सीखते हुए ही जिए हैं। विश्राम का अवसर उन्हें शायद ही मिला, विचित्र कर्म की प्रचेष्टाओं के भीतर उनका आलस्यहीन विरक्ति-रहित, अक्लान्त श्रम प्रेरक रूप में लक्ष्य करने योग्य रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी ने बिहार को संस्कृत के तीन उद्भट विद्वान् दिए थे, जिनकी कीर्ति देश-देशान्तर तक फैली थी और जिन्होंने युग पर अपनी अमिट छाप छोड़ी थी। वे थे महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा, डा० गंगानाथ झा और मुक्त जी के पिता आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री। इन तीनों ने संस्कृत के समुद्र को उलीच कर हिन्दी के वन-उपवन को भी हरा-भरा किया था। मुक्त जी के पिता शास्त्री जी ने रामायण और अंशतः महाभारत को भी अत्यन्त प्रामाणिक रूप में हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ किया था। अब तक उससे अधिक विश्वसनीय अनुवाद रामायण का नहीं निकला, हालांकि प्रयत्न बहुतों ने किए। वाल्मीकि का भाषिक शिल्प संस्कृत के ऐसे-वैसे जानकारों के पल्ले पड़ने वाला नहीं है।

मुक्तजी ने उन्हीं से संस्कृत-साहित्य की शिक्षा प्राप्त की थी और उस ज्ञान का उपयोग उन्होंने कथा-सरित्सागर का अत्यन्त सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत करते हुए किया है।

बंगला और अंग्रेजी उनकी रगों में रच-पच गई है, जब-तब हल्की-फुल्की गुफ्तगू के दरम्यान कभी पारुल-रजनीगन्धा की सुगन्ध फैल जाती है, कभी लिली और डैफोडिल्स की रंगोली। ऐसे में जब कभी उनकी आंखें हंसती हैं तो अंगनाई में जाड़े की कच्ची-गुनगुनी धूप उतर आती है।

मुक्त उपनाम बताता है कि उन्होंने शुरुआत कविता से की थी। विद्यार्थी जीवन में मैंने उनकी कविता भरसक चांद में देखी थी, कहानी वीणा में। पिछले दिनों उन्हें आकाशवाणी के एक कवि सम्मेलन में 'रास' पर इस वेतकल्लुफी से एक लम्बी कविता पढ़ते सुना था जैसे उन्हें प्रासंगिकता की चीख-पुकार ने कभी चौंकाया ही न हो!

विनम्रता से झुके-झुके ही उन्होंने कई ऊंची चीजें कविता, गद्य-काव्य, कहानियों और उपन्यासों के रूप में हिन्दी-साहित्य को भेंट की हैं। 'स्मृतितीर्थ' उस शैली का गद्य काव्य है, प्रसाद और रायकृष्ण दास ने जिसकी नींव हृदय की गहराइयों में रखी थी। 'दो दिन की दुनिया' की कहानियां कैसे भी संगदिल की पलकें नम करने वाली हैं। 'पुलिना के पत्र' यथार्थ की जमीन पर रूमान की परछांई है। पत्र-शैली में एक ऐसा सफल उपन्यास जो अनजानते कांपते तारों में स्वर भर देता है। 'मुक्त' जी ने बहुत लिखा है, यह तो महज अपनी ही देखी-सुनी की साफगोई है।

उन्होंने जिन अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया उनमें 'बिजली' और 'आरती' ने प्रचुर यश अर्जित किया था।

साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के रेगिस्तान-जैसे बिहार में कभी 'बिजली' कौधी थी, और कभी साहित्य देवता की 'आरती' उतरी थी, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। पीछे पैसे वाले प्रकाशकों ने हिमालय, पारिजात और अवंतिका-जैसी पत्रिकाओं को भी फलने-फूलने न दिया क्योंकि टेक्स्टबुक और कुंजी से उन्हें एक-एक के पचीस-पचास बनाने का अभ्यास हो गया था। ऐसे में उन्हें साहित्य से क्या लेना-देना? दूसरी ओर मुक्त जी थे जो साहित्य के नाम पर लुटे। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद उन्हें बहुत मानते थे। अपनी एक पुस्तक मुक्त जी को छापने के लिए भी दी थी। लेकिन मुक्त जी न उनसे अनुचित लाभ उठाने की सोच सकते थे, न वह अपने कठोर आदर्श से राई-रत्तीभर भी डिग सकते थे।

सो, मुक्त जी ने कई बार आशियाने बनाए और कठिनाइयों की आंधी ने उसके तिनके-तिनके बड़ी बेदर्दी से नीलाम कर दिए।

मुक्त जी के प्रख्यात पिता आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री ने जो रामायण का लोकप्रिय रूपान्तर किया था, एक समय उसे लेकर मुक्त जी देश भर में घूमे थे। अब वह कई दशकों से दुष्प्राप्य था। मुक्त जी ने ८०वीं सीढ़ी की ओर ताककर नए उत्साह से उसे फिर से सर्व-सुलभ बनाने का बीड़ा उठाया है। उसके कई कांड नई साज-सज्जा में निकल भी चुके हैं। बाकी के लिए भी उनका संघर्ष निरन्तर जारी है। उनकी अदम्य इच्छा शक्ति स्वास्थ्य की सीमाओं के बाहर भी उनसे कठोर श्रम करा रही है। ईश्वर उन्हें सौ साल तक स्वस्थ रखे कि रामायण के अतिरिक्त उनकी खुद की सभी दुर्लभ कृतियों का भी सुसंपादित सेट नई पीढ़ी को उपलब्ध हो सके। उनकी कर्मठता हमारी अलस प्रवृत्तियों का खात्मा कर दे; उनकी प्रगल्भ प्रतिभा हमें कुछ और ऐसी जरखेज जमीन दिखाए जो उन्हीं के अनुभवों से गोड़ी और उन्हीं के श्रम से सींची गई हो।

★

गजल

कर्म ऐसा कोई एक कर जाएँ हम,
जग न जाए बिसर जबकि मर जाएँ हम !
खूब पहचान लें पाप को, पुण्य को,
पर न इन मंजिलों पर बिखर जाएँ हम !!

धूल में खेलते-खेलते दिन ढला,
फूल चुनते उँगलियों में कांटे चुभे,
धूल हो फूल, जाएँ फिजाएँ महक,
बस कि जिस रहगुजर से गुजर जाएँ हम !

यह बलन्दी कि गहराइयों का जफर :
झुक हिमाला हमारे कदम चूम ले !
ले झुका, फन-सरीखी उठे गर लहर,
हँसते-हँसते समन्दर को तर जाएँ हम !

नींद जाती उचट सोचते-सोचते,
छिन्न-विच्छिन होता नयन पांछ मन,
दर्द -- जैसे उठे जर्द चेहरे लिए,
आँसुओं-संग चुपके न झर जाएँ हम !

जिन्दगी का य' मैदान सरपट पड़ा,
दूर तक धुन्ध, दिखता न मंजर कोई,
चाक करदे खमोशी का सीना झपट
तेज स्वर एक बुलबुल का भर जाएँ हम !

साफ -- सुथरी नहीं राह कोई यहाँ,
धूल से है अटी, शूल से है पटी,
साँस से दें उड़ा जो जमी धुन्ध हो,
पूछना पाँव से क्या : किधर जाएँ हम !

पंख कुतरे गए सब्र, विश्वास के,
पङ्गु सम्बन्ध कर अन्ध आस्था हुई,
सुर्ख आँखों को जलती सलाखों से यह
खोलता है, न हो बेखबर जाएँ हम !

जुर्म सहना सितारों का भी है सितम,
स्याह रातों में देखा है ख्वाबे सहर,
चोच में ले परिन्दे हैं तिनके उड़े,
हाथ खाली पलटकर न धर जाएँ हम

★

रेडियो रूपक

प्रतिध्वनि

[आधी रात के सन्नाटे में पड़ोस के एक मकान में पहले थोड़ा शोरगुल होता है, फिर एक औरत की गिड़गिड़ाहट-भरी चीख सुनाई देती है :—

'जाने दो, मुझे चली जाने दो, ……'

'कहाँ' ? – (मर्द की आवाज में कड़क है।)

[अपने खुले कमरे में राम और जानकी सुख की नींद सोए पड़े हैं। आवाज की कर्कशता से चौंककर जानकी जग जाती है।]

जानकी : ओ जी ओ घोड़े बेचकर सोनेवाले ! कुछ सुना तुमने ?

राम : हाँ-हाँ सुना ! मैंने भी तो हजार बार कहा : किवाड़ बन्द कर सोया करो: मगर तुमने कब सुनी मेरी ! जानकी जी सोएँगीं– दरवाजे, खिड़कियाँ खोलकर, और चाहेंगी सड़क की रोशनी न आए, बाजार की हवा न लगे, पास-पड़ोस की आवाज न सुनाई दे ! देवी जी, नादिरशाही का जमाना कब का लद गया। हाँ sss, अपने पैरों में जूतियाँ डालिए, सारी धरती को चमड़े से मढ़वाने का ख्वाब देखना बेकार है !

चलिए, उठिए, किवाड़ बन्द कर सो रहिए ! या चहल-कदमी करने का इरादा हो तो खुशी-खुशी सारी रात चहल-कदमी कीजिए, मगर खुदा के वास्ते मुझ पर रहम कीजिए, मुझे सवेरे साढ़े नौ बजे ही औफिस चला जाना होगा, रहीम छुट्टी पर है, कल उसकी फाइलें भी मुझे ही देखनी है ! इधर तलाक के मुकदमों के मारे नाकोदम हैं -- ··· डेली इतनी दरख्वास्तें आती हैं कि राम और रहीम– यानी

हम दोनों एक साथ कोई भी छुट्टी नहीं मना सकते, एक न एक को हरवक्त कोल्हू में जुता ही रहना पड़ता है। ··· ···

जानकी : चालू हो गया चर्खा ! अरे बाबा, मैं तुम्हारी रामकहानी ही सुनते-सुनते तो सोई थी ! ·· ···' (टुक रुक कर)
सुनते हो राम ? मैं इस पड़ोस से ··· ···

राम : सवाल इस या उस पड़ोस का नहीं है जानकी ! सवाल है मौजूदा जिन्दगी के खोखलेपन का। सुनता हूं, पहले सौ-दो-सौ रु० कमानेवालों की अमीरों में गिनती होती थी। अब तो इतने से कम कोई कमाता ही नहीं, और तिस पर तुर्रा यह कि हर घर में हाय-हाय मची रहती है ! इतने पास-पास, ऐसे सीलन-भरे छोटे-छोटे घरों में कोई शौकिया नहीं रहता। यह हमारी मजबूरी है, जानकी !

जानकी : मैं पड़ोस बदलने कह रही हूँ, समझे ? समाज बदलने नहीं ! बात कोई भी क्यों न हो, तुम उसे अपनी औंधी खोपड़ी के क्रीम से चमकाए बिना नहीं रह सकते ! कान खोलकर सुन लो राम, तुम्हें इसका हल निकालना ही होगा। मैं इस पड़ोस से तंग आ गई हूँ, मुझसे यह रोज-रोज - - -

राम : (हँसकर) क्यों नहीं ? क्यों नहीं ? तुम्हें तो ऐसा पड़ोस पसन्द है जहाँ हर घड़ी दिल की धड़कनों का संगीत छिड़ा रहे··· ···

--'निगाहें मिलाने को जी चाहता है !'

मगर देवी जी, अब ऐसा पड़ोस कहीं नहीं रहा। अब तो टेसू के फूलों की हँसी देखो, ढाक की टेढ़ी-मेढ़ी काया नहीं, तभी चलेगा।

चीख की तेजी : हिचकियाँ : गिड़गिड़ाहट -'नहीं, अब नहीं, अब न हीं ऽ ऽ ऽ ऽ]

जानकी : ओह ! नर पिशाच है सुधीर। देखने में भोला-भाला, दिल ऐसा जला ! ऐसा जहरीला ! चाँद-सी बीबी मिली थी, राहु की तरह अमृत निचोड़ कर, रोशनी पी ली, फिर चुप-

चाप अँधेरे में डाल दिया ! चाँद को गहन लगे और दान-पुन्न करनेवाले आगे न आएँ, ऐसा कैसे होगा ?

अब जलता है :—'अब तक कहाँ थीं' ?

लोहे लक्कड़ की दूकान में डेढ़ सौ रुपल्लियाँ पाता है; बीबी पहनती है सौ-सौ की साड़ियाँ, नए से नए डिजाइन की ! देख कर रहसता है : यह प्याजी और किशमिशी रंग खूब फबता है तुम्हारे·· हाय रे··· गोरे-गोरे तन-बदन पर ! यह नहीं पूछता : कहाँ से आईं ये इत्ती साड़ियाँ, ये असली-नकली जेवरात ?

जब देखो तब नशे में धुत्त ! हजरत बीबी की छाल छीलकर खुमार उतारते हैं ! कभी-कभी ऐसे हँसी-ठहाके कि सारा कटरा उड़नखटोला बन जाता है, मगर ज्यादातर यही मार-पीट, चीख-पुकार, हाय-तोबा, खून-खराबा— —

कलमुँहे का जला दिल देखे तो कोई— —

राम : जले दिल की एक ही कही, जानकी··· ···

जिन्दगी की चिलचिलाती हुई धूप में दिन-दिन भर जल-तप कर कोई घर की छाँह में लौटता है, सचाई की कड़बाहट को शबनमी सपनों की मिठास में घुला देना चाहता है, थके-थके होठों की फीकी-फीकी, उखड़ी-उखड़ी-सी मुसकान फिर से खुश्क होठों पर जमाना चाहता है, ऐसे में उसे एक पर्दा दिखता है— काला सा; उसके भीतर से एक रोशनी झाँकती होती है—मद्धम-सी; उसके गिर्द दो परवाने सर धुनते होते हैं—घायल-से ।

कहो, जानकी, कहो, वह कैसे सहे ? दिए की सुनहरी लौ के दायरे में घायल परवानों का नशा देख उसका अपना नशा हिरन हो जायगा या नहीं ?

आह ! काँपती-सी लौ का वह उतरा हुआ ताज, वह धुएँ के केश बिथुराए हुए मदहोश-सी शमा, वह···वह··· जिगर का सबर फिर भी न टूटे ?···फिर भी न टूटे ? पर्दे की काली-अँधेरी अमा चाँद को डूबने से बचा सकती है ?

जानकी : नहीं राम, नहीं, मैं तुम्हारी उल्टी गंगा में बहने से रही ! कल ही माधवी से मिलूँगा !—सुना तुमने—कल ही !

राम : तो क्या हुआ ? कह देगी, उसका निजी मामला है, मियाँ-बीबी के झगड़े में तुम कौन होती हो बीच-बिचाव करने-वाली ?

[चीख रात के सन्नाटे को तार-तार किए दे रही है ।]

जानकी : वह कहे, न कहे, उसकी ओर से तुम तो कह ही रहे हो ! एक मरद दूसरे मरद की तरफदारी क्यों न करे !

राम : यह तो मुझपर सरासर इलजाम है, जानकी ! बात इंसाफ की है, तरफदारी की नहीं ! मैं भला किसी की तरफदारी क्यों करने लगा ? अच्छा,

बुरा न मानो तो एक बात पूछूँ ?

जानकी : (हँसकर) जाहिर हैं, कोई ऐसी बात पूछोगे, जो बुरी लगनेवाली होगी, फिर भी पूछो !

मैं जानती हूँ राम ! दफ्तर में किरानी, स्कूल में मास्टर, किराए के मकान में किराएदार, चाहे जितनी शेखी बघारे, वह अपनी हैसियत से नाबाकिफ नहीं होता !

राम : अरे, तुम तो ख्वाह-म-ख्वाह सीरियस हो गई । हम समाज के जिस ढाँचे को आबाद रखने के लिए खून का घूँट पीकर जीते हैं, हमारे खून में उबाल आ जाए तो वह ढाँचा चर-मरमरा न उठे ? कौन चाहता है समाज का नक्शा बदलना ? कौन चाहता है बेनकाब होना ?

सुख की नीन्द सोना चाहती हो तो कमरा बन्द कर चुपचाप सो रहो ! बाहर की रोशनी को अन्दर मत आने दो ! बाहर की आवाज मत सुनो – कान बन्द कर लो ।

सुना तुमने ? संगीत सुनने के लिए कान खोलोगी तो चीख भी सुननी ही होगी !

(उतरे हुए स्वर से) चीख भी संगीत की ही एक कशिश है । सही सुरों के खोजने की जल्दी में गलत सुर पर गला चला जाता है ! बस ! (हँसता है ।)

जानकी : फिर वही समाज का नक्शा ! क्यों न हो,—समाजशास्त्र के मास्टर जो ठहरे ! किसी व्यक्ति का दुख-दर्द समझ में आ जाए, तब तो समाज का बेड़ा ही गर्क हो जाएगा ! आ हा ! आ हा हा···

क्या दर्शन छाँटा है जनाब ने : चीख भी संगीत की ही एक कोशिश है !

राम : (ठहाका लगाकर) कोशिश नहीं देवी जी, कशिश··· कशिश [फिर हँसते ही हँपने फटाफट आवाज के साथ किवाड़ बन्द कर लेता है। तभी पड़ोस के एक दूसरे घर की खिड़कियाँ खुलती हैं और दो औरतों की बातचीत सुनाई देती है : हाँफने और कराहने की आवाज मद्धम पड़ गई है, पर वातावरण में तीखापन घुल गया है।]

लता : यह क्या हो रहा है नोमी ? क्या चीखते-चीखते माधवी की घिग्घी बँध गई ? क्या वह दम तोड़ रही है ?

नमिता : नहीं लता भाभी, माधवी बड़ी दबंग और बहादुर औरत है ! वह इतनी आसानी से मरने वाली नहीं है। अभी दो घंटे पहले सिनेमा से लौटी थी तो कैसी हँसमुख लग रही थी। बड़ी दमदार है। ऐसे सारी रात रोती रह सकती है।

लता : तुम नहीं जानती नोमी, जो कमल तीखी धूप में खिलता है, वह चाँदनी में मुरझ भी जाता है !

सुधीर ने उसे आजादी क्या दी, वह अच्छी-खासी नगर-वधू बन गई। कहेगी, साग-भाजी लाने जा रही हूँ और जायगी किसी रँड़ुए के घर। लौटते वक्त सबसे मँहगी तरकारियों से प्लास्टिक का झोला भर कर आ जायगी। कहेगी, साया फट गया है, दो गज लट्ठा खरीदने जा रही हूँ और जायगी किसी रसिये के घर, लौटेगी ढलती शाम को, धुँधलके में, ढेर सारे कपड़े दाएँ-बाएँ दबाए हुए !

आज रंगे हाथों पकड़ गई शायद ! पियक्कड़ ही ठहरा, आज सुधीर निश्चित समय से पहले आ गया शायद ! कोई न कोई ऐसी ही बात होगी—शायद !

नमिता : नहीं, लता भाभी,—तुम्हें किसी ने उल्टी पट्टी पढ़ा दी है। माधवी के पैर ऊँचे-नीचे पड़ने वाले नहीं है। सुधीर शराबी भी है, जुआड़ी भी। जब वह नौकरी पर चला जाता हैं, माधवी ट्यूशन करने निकल जाती है। बी० ए० पास है, अपनी कमाई से खाती-पहनती है। सुधीर के साथ वह गिन-गिनकर दिन काट रही है। बेचारी के माँ-बाप तो नहीं है, मगर भाई-भौजाई हैं। कटक में उनका कोई भारी बिजनेस होता है। उसने तो कितनी ही बार कहा : मैं तुम्हारे लायक नहीं, मुझे मैके जाने दो, मगर सुधीर उसे जाने भी नहीं देता।

लता : नोमी, तुमने ये बातें क्या, कालेज में पढ़ी हैं ? कभी परीक्षा में पूछी गई थीं ? बाप रे ! ऐसा सिलसिलेवार ज्ञान !... क्या माधवी तुम्हारी सहेली है ? कभी छुप-छुपकर तुम दोनों खुस-पुसर करती हो ?

नमिता : (हँसकर) अरे नहीं भाभी ? गाल मारने की आदत नहीं, मैं तो हकीकत बयान कर रही हूँ। दो ट्यूशन तो उसे मैंने ही दिलवाए हैं कालेज की सहेलियों के घर—नन्हें-मुन्नों को पढ़ाने के लिए ! उसके आफतावी चेहरे पर न जाओ, वह तो ईश्वर की देन है; यों वह बहुत कठिन जीवन जीती है ! रोज कुआँ खोदती है और पानी पीती है !

सुधीर ने एक-एककर उसके सारे गहने उतरवा लिए और बेचकर पी भी गया। पीतल और रोल्ड-गोल्ड पहने चलती है कि कोई असलियत न जाने। एक ही साड़ी को हर हफ्ते नए-नए रंग में रंग लेती है कि कोई 'बच्ची' पूछ न बैठे : दूसरी साड़ी नहीं है दीदी ?

लता : और सिनेमा इसलिए देखती होगी कि अगर कोई 'बच्चा' पूछ बैठे : माधवी, तुम्हें 'प्यार का मौसम', 'जब-जब प्यार मिले' 'झुक गया प्यार' और 'प्यार किए पछताए' में सबसे अच्छा प्यार किसका लगा ? तो वह फौरन बतला सके : बच्चा, प्यार-प्यार है, अच्छा क्या ? बुरा क्या ? तू

क्या ? मैं क्या ? आओ, प्यार करें।' (दोनों हँस पड़ती हैं। तभी वह चीख बुरी तरह कान के पर्दों से टकराती है।)

नमिता : जाने दो, अपना क्या ? जब तुम्हें मेरी बातों पर यकीन ही नहीं, फिर जंगल में रोने से क्या फायदा ? बेचारी को किस्मत का लिखा पूरा भुगतना ही होगा !

हाँ और क्या ? सुधीर को कौन कहेगा कि क्यों पीता है, क्यों जुआ खेलता है, क्यों आधी रात के बाद घर लौटता है ? सोलह-सोलह घंटे माधवी अकेली कैसे रहती है ?

सब मेरे भैया-जैसे तो नहीं,—आफिस से चले तो सीधे घर।—जो ठंडा-गरम मिला, चुपचाप खाकर सो गए ?—क्यों भाभी ?—पीना तो दरकिनार, कभी चक्खी तक नहीं।

लता : पीने से क्या होता है नमिता ? सभी तो पीते हैं। तुम्हारे भैया कहते हैं : बिना पिए कोल्हू का बैल बनना सम्भव ही नहीं। सबेरे से शाम तक दफ्तर, फिर पेट्रोल की दुकान में। एक दफा घर से निकले तो ग्यारह बजे रात तक हिसाब-किताब करते रहे। तुम्हारे ब्याह के लिए ही तो इतना खटते हैं, फिर भी दहेज की रकम पूरी होती नजर नहीं आती।

नमिता : लता भाभी, आज अभी तक भैया नहीं आए। आधी रात हो गई।

लता : हाँ ऽ ऽ ऽ, मैं तो सो गई थी, कुछ पता न चला। देखो न, और दिन तुम्हारे भैया आते थे, फिर सुधीर। आज न जाने ऐसी क्या बात हो गई कि पहले वही आ गया।

नमिता : पहले-पीछे आने से क्या फर्क पड़ता है भाभी ? मेरे भैया क्या जंगली हैं ? उन्होंने तो कभी फूल की पंखड़ी फेंककर भी तुम्हें नहीं मारा !

लता : बस-बस, अब रहने भी दो नोमी। घर में क्या डंडा नहीं, जो फूल से मारते ? (सिसकने लगती है) एक बार तुम्हारी ही लिखाई-पढ़ाई को लेकर बक-झक हो गई तो चार चाँटे जड़ दिए (सिसकी)

उस इतवार को तुम कालेज-ड्रामे का रिहर्सल करने चली गई थी। आँधी-तूफान की तरह चार यारों के साथ आए एक दर्जन अंडे लिए हुए कि मैं टोस्ट और आमलेट और चाय जल्दी तैयार कर दूँ, सब मैटनी शो में जा रहे हैं! मैंने कहा, नोमी नहीं है, मैं तो अंडे नहीं तोड़ूँगी, मुझे घिन लगती है। फिर क्या? बाहर उनके यार-दोस्त कहकहे लगा रहे थे और भीतर मेरी कुटम्मस हो रही थी कि मैं ऐसी दकियानूस क्यों हूँ? क्यों नहीं मर जाती कि- -

नमिता : - -कि ?

लता : -कि वह हू-ब-हू तुम-जैसी, खुले दिल-दिमाग की, एक लड़की ले आएँ!

नमिता : भा-भी-! तुम तो मजाक करती हो! मेरा भैया कभी ऐसा कह ही नहीं सकता!

लता : (रो-रोकर) हाँ-हाँ, तुम्हारे भैया जो ठहरे! अब मेरा मुँह न खुलवाओ! में बुरी हूँ,—बहुत बुरी हूँ,— बहुत-बहुत बुरी हूँ (रोती है!)

नमिता : प्लीज भाभी, प्लीज! ऐसी निष्ठुर न बनो! मैंने तुम्हे कभी पहले रोते नहीं देखा!

लता : (खाँस-खँखार कर गला साफ करती है। स्वर भारी हो जाता है।) बस यही तो बात है! - -कि मुझे चीखने-चिल्लाने से सख्त नफरत है। दिल के फफोले दिल में ही फूटें! दिल का घाव दिल में ही रिसे! क्या होगा मुँह खोलकर? माँ-बाप ने जिस खूँटे से बाँध दिया, लड़की को गाय की तरह उसी खूँटे से बँधा रहना है!

नमिता : मेरी ऐसी गाय भाभी को भैया पीटता है?—मेरे लिए पीटता है? अच्छा, आने दो, आज मैं - -

लता : नहीं नोमी। सिर्फ तुम्हारे ही लिए नहीं।

नमित : फिर?

लता : फिर क्या? मैं उनकी हाँ में हाँ जो नहीं मिलाती। आशा को दो-दो बार मुँह न दिखाने की स्थिति से गुजरना पड़ा;

कामना ने दवा खाकर हमेशा के लिए छुट्टी पा ली;—मैं कहती हूँ, लानत भेजो ऐसी लिखाई-पढ़ाई पर।

तुम्हारे बारे में सुरेन्दर क्या-क्या बक रहा था ? अरे हाँ, वही सुरेन्दर, जो नाटक में तुम्हारा हीरो होता है। सुना, विनता बता रही थी, किसी रोज झड़प भी हो गई थी। मैं बोली, मेरा क्या ? जाने नमिता, जाने उसका भाई। मैं पूछती हूँ, यह सब किसलिए ? क्या होगा ऐसे गए-गुजरे कॉलेज में पढ़कर - - ?

कहने लगे, नमिता डाक्टर बने तो कैसा हो ? संजय कहता है, बात पक्की। तुम बहन को एम० बी० बी० एस० करा दो, मैं इस बीच बाहर से डिग्री-डिप्लोमा ले आता हूँ, तिलक-दहेज को गोली मारो, बात पक्की।

मैं बोली : पहले कहते थे, नमिता बी० एस-सी० कर लेगी तब शादी कर दूँगा —अब और तीन या पाँच बरस इन्तजार करना पड़ेगा। जानते हो, नमिता इक्कीसवें वर्ष में है, कॉलेज में अठारह होने से उसकी बाढ़ तो नहीं रुक जायगी। फिर इस —उसके वायदे पर भरोसा भी कैसे करें ? विलायत से लौटने पर संजय का विचार बदल भी तो सकता है।

[चीख असह्य हो उठती है।]

नमिता : जियो माधवी, जियो ! काश कि यह आवाज कुदरत ने मुझे दी होती ! स्टेज पर मैं तो कयामत बरपा करती। आवाज है यह ! वाह ! माधवी, वाह !

जान जाए तो जाए, आन पर अडिग रहना। हम सब तुम्हारे साथ हैं। हर मुमकिन कोशिश करेंगे कि तुम आजाद हो जाओ। ऐसे गाजी मियाँ की बीबी बने तुम्हारी जूती। (ऊँचे स्वर से) जानती हो, सुधीर घास से ढका हुआ अन्धा कुआँ है। वह तुम्हीं थीं जो गिरते-गिरते सँभल गईं। मौत की घाटियों में तुम्हारे संघर्ष की कहानी गूँजेगी; मरण की पगडंडियों पर तुम्हारे जीवन के चरण-चिह्न अंकित रहेंगे। हम सब तुम्हारे साथ हैं। इनक्लाब जिन्दाबाद (ठठाकर हँसती है।)

[किवाड़ खटखटाने की आवाज]

लता : वह आ गए शायद ! नोमी, तुम अपने कमरे में जाकर सो रहो। फिर देखो –

नमिता : जाती हूँ भाभी, मगर मेरे बारे में कोई बात न करना, नहीं तो मैं भंडा फोड़ दूँगी।—शायद ! (हँसती-हँसती चली जाती है।)

लता : अच्छा-अच्छा, अब जाओ भी :

[खटखटाहट बढ़ती है।]

कौन है ? इतनी रात गए कौन दरवाजा खटखटा रहा है ? शायद···

चन्दन : मैं चन्दन हूँ। तुम्हारा···

लता : मैं किसी चन्दन—वन्दन को नहीं जानती, दरवाजा नहीं खुलेगा, सुना आपने—इस घर में घर के मालिक की बहन भी रहती है,—क्वाँरी। हाँ ऽ ऽ ऽ, आधीरात के बाद दरवाजा नहीं खुलता, जमाना बुरा है, मैं अकेली किस-किस से निपटूँगी ? हाँ ऽ ऽ, अभी वह पाँच साल तक क्वाँरी ही रहेगी। सुना आपने, दिन की रोशनी में देखिएगा। अभी ठंडे-ठंडे तशरीफ ले जाइए, नहीं तो मैं शोर मचाऊँगी और आप फिर कटरे में मुँह दिखाने के लायक नहीं रह जाएँगे। (हँसते-हँसते दरवाजा खोल देती है) भीतर तीन बीभत्स और भयानक अजनबी एक साथ घुस आते हैं; लता बेतहाशा चीख उठती है : —कौन हैं आप लोग ?

एक अजनबी : कहाँ है ?

लता : कौन ? मुझे नहीं मालूम !

दूसरा अजनबी : अभी कह रही थी : यहीं है।

लता : कौन ?

तीसरा अजनबी ; अरे वही –

लता : अरे वही कौन ?

(एक अजनबी दूसरे के कान में)—नमिता नाम है उसका। पूछो, जल्दी पूछो।

पहला अजनबी : अरे, अभी-अभी जिसके बारे में बता रही थीं, वही जवान लड़की नमिता, और कौन ?

लता : नमिता ? वह तो सो रही है !

तीनों : सो रही है ? तो जगा दो। बोलो, सुरेन्दर तुम्हें लेने आया है, बाहर गाड़ी खड़ी है, जल्दी निकल चलो, वर्ना जबर्दस्ती करनी होगी।

लता : आपलोगों का होश तो ठिकाने है ? हौल हौली करके साढ़े बारह बजे रात में आपलोग एक काँच-कुआँर लड़की को भगा ले जाना चाहते हैं ? मै जीते जी ऐसा नहीं होने दूँगी।

एक अजनबी : तो आप भी चली चलिए न ?

दूसरा अजनबी : हाँ यह भी ठीक है।

लता : क्या बकते हो ? अभी जरा उन्हें आ तो लेने दो, खूब अच्छी तरह एक-एक की खबर लेंगे। शायद तुम उन्हें नहीं जानते !

तीसरा अजनबी : अब कोई नहीं आएगा। सुबह के भूले शाम को घर लौट आए, दुपहर के भूले आधी रात को ! अब और कौन आएगा ?

लता : क्या कहा ? फिर तो कहो। (रोकर) अरे पापियो, तो क्या सचमुच ही वह अब कभी न आएंगे ?

(चक्कर खाकर गिरने-गिरने को हो जाती है, झटके से किवाड़ खोलकर नमिता बाहर निमल आती है।)

नमिता : यह क्या मजाक है ? इससे तो किसी की जान पर बन आ सकती है ! (दूसरी ओर देखकर) खबरदार, जो किसी ने भाभी को हाथ लगाया। यह हक सिर्फ भैया का है, समझे ? —लो भैया, सँभालो मेरी भाभी को।

[एक अजनबी अपने चेहरे से मास्क हटाकर चन्दन बन जाता है।]

चन्दन : देखा सुरेन्द्र ! और मैं क्या कहता था ? यही खूबी है मेरी बहन में। लता बेहद सीधी है, कुछ नहीं समझती। बस रात-दिन लिखी-पढ़ी लड़कियों को लेकर झांखती रहती है।

और फिर कैसे-कैसे किस्से गढ़ती रहती है ? मैं कहूँगा, तुम भी पढ़ो, तो कहेगी : मैं क्यों पढ़ूँ ? मुझे ···'वो'·· बनना नहीं हैं ।

अरे सुधीर—अपनी भाभी से क्या शर्म ? अब उतार भी दे यार यह प्लास्टिक का मुखौटा, तू तो अपने आप कागज का शेर है !

[लता एक-एक को देखकर अवाक् है, नमिता उसे हँस-हँस कर समझाती है ।]

नमिता : लता भाभी, अब तुम भी अपनी व्याकुलता इसी अट्टहास में डुबो दो । तुम्हारा अहंकार चाहे तुम्हें विवश भी कर दे, पर तुम संकुचित या सीमित नहीं हो। तुम्हारा स्नेह असीम है, तुम्हारे निश्छल, निर्भय त्याग को ऐसी नकली, विष-बुझी हँसी नहीं डँस सकती ।

भैया समझते हैं कि तुम स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध हो । झूठ समझते हैं वह । तुम तो आदर्श शिक्षा के पक्ष में सबसे पहला मत देने वाली हो । हाँ, अनैतिकता और फैशन-परस्ती तुम्हें पसन्द नहीं, सो वह मुझे भी नहीं है ।

भैया ने जो नाटक किया है, उसमें वह खलनायक की कोटि में आ गए,—अभी तुम्हें कुछ हो जाता तो ?

चन्दन : अच्छा नोमी, सुरेन्द्र तो सही मानों में नायक है, उसी से पूछ देखो, यह शरारत किसकी सूझ है । कॉलेज ड्रॉमे का इन्चार्ज जो है, कई मास्क उठा लाया था । बोला, चलो जरा लता भाभी को छेड़ा जाय ।

[चीख की कारुणिकता से छत काँप उठती है ।]

लता : अरे सुधीर ! तुम यहाँ हो, फिर माधवी की इस भयानक चीख का सबब ?

(सुधीर हँसने लगता है ।)

मैं कहती हूँ, निर्लज्ज हँसी बन्द करो । शर्म नहीं आती । माधवी को मार-मार कर मलीदा बना दिया और हँसकर ऊपर से जले पर नमक छिड़कते हो !

और तुम ··। तुम कौन-से सुरेन्दर हो ? नमिता के हीरो ? ज्यादा जीभ चलाने लगे हो आजकल ! मुझे छेड़ने का इरादा क्यों कर हुआ ?-मैं सात-पाँच नहीं जानती,-साफ-साफ कहो। दिखते तो साफ-सुथरे हो। जहाँ जाते होगे वहीं अपना सिक्का बैठा लेते होगे ? मगर कान खोलकर सुन लो, मुझे तुम-जैसे बहुरूपियों की ऐसी हरकतें कतई पसन्द नहीं। (व्यंग्य से) वाह रे ! उधर नमिता चापलूसी करती है कि भाभी स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध नहीं हैं, इधर सुरेन्द्र साहब ने मुझे चिढ़ाने के लिए अच्छी छेड़ निकाली है।

मुझ पर छुरी फिरती है और चन्दनजी हैं कि छिपे-छिपे चोट करना कोई इनसे सीख ले।

चन्दन : (उखड़े स्वर में) लता ! मैं कहता हूँ, ल ता ·। यह क्या ? पी हमलोगों ने है और नशे में धुत्त तुम हो। आज तक मेरे खानदान में कभी ऐसी बात नहीं हुई थी, क्यों मेरे नाम पर धब्बा लगाती हो ?

(लड़खड़ाते-से स्वर में) - - मैं सबसे कहा करता हूँ— मेरी लता सीता जैसी है - हाँऽऽ - रूप में भी, गुण में भी, —हांऽऽ रूप में भी गुण में भी और उधर तुम हो जो बके जा रही हो, जो मुँह में आता है, बके जा रही हो —

जानती कुछ नहीं, नुकताचीनी करने की पुरानी आदत है !

लता : (तिनक कर) मैं सीता होऊँ, न होऊँ, तुम तो राम हो ! लो · मैं तुम्हारे सुरेन्दर को भी साक्षात् लक्ष्मण माने लेती हूँ, अब तो खुश हो ?

सुरेन्दर : (ललकार कर) यह एक बात हुई न भाई ! जी चाहता है, तुम्हारे चरण चूम लूँ ?—न सही चरण, (चप्पल उठाकर) तुम्हारी चप्पल ही (चूमने की आवाज) आज मैं बहुत खुश हूँ। इतना खुश हूँ कि जाने कितना खुश हूँ। जी चाहता है, आपके चरणों पर सर टेककर नमिता का हाथ माँग लूँ !

नमिता : (तिनक कर) यह क्या बकवास है ? 'बड़ी फजर चूल्हे पर नजर !' मैं मगर ऐसे मजाक की आदी नहीं हूँ। सुना तुमने ? पिता-सरीखे बड़े भाई सामने हैं, माता-जैसी लता

भाभी पीछे खड़ी हैं, जिनकी जीभ पर साक्षात् सरस्वती बसती हैं। मैं कहती हूँ : बको मत, जीभ थोड़ी करो !

लता : (मुँह बनाकर) लक्ष्मण भाई ! नयनों के लाल डोरों की वजह से आपको 'लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल' दिखाई दे रही है, दरअसल यह नमिता है ! आप शायद इसे कुछ और समझ रहे हैं ! बुद्धिमान को इशारा काफी, आपसे इनके नाक-कान की सलामती के लिए प्रार्थना करती हूँ !

(चन्दन सुधीर के कानों में···)

सब सुन रहे हो न सुधीर ? सुरेन्दर की जल्दबाजी से बात बिगड़ भी सकती है।

(सुधीर भी चन्दन के कानों में ही)

अरे यार ! बात बनी ही कब थी ? तुमने भी संजय के बारे में बात की थी—भाभी को क्या मालूम—संजय एक फर्जी नाम है— नुरेन्दर ही संजय है—ड्रामेटिक सोसाइटी ने दोनों को करीब ला दिया है—चर्चा कालेज के दायरे को पार कर चुकी है—अब रिश्ता ही इस मर्ज का इलाज है !

नमिता : (लता से कड़े स्वर में) नहीं लता भाभी विनोद-परिहास की भी एक सीमा होनी चाहिए। सुरेन्द्र होगा अच्छा कलाकार अपने घर का, उससे मेरा क्या ? हमारा विवाह क्या कॉलेज के रंगमंच पर होगा ? एक-एक कक्षा में दो-दो वर्ष लुढ़कता है—लिखाई-पढ़ाई से तो समझ लो, छत्तीस का ही नाता है ! बस. नाटक करने के लिए कॉलेज में डटा हुआ है ! मैं इसकी पहली हिरोइन नहीं !

सुरन्दर : (लड़खड़ा कर) नहीं-नहीं नोमी ! अब बस भी करो, यह सब न कहो ! आज मैं हनुमान जी का मुखौटा लगाकर इसी लिए आया हूँ कि तुम्हें अपना कलेजा चीरकर दिखा दूँ।

(कपड़े फाड़ने की आवाज)

यह रहा मेरा चिरा हुआ कलेजा—देख लो, अच्छी तरह देख लो, दो लाख की लाटरी का नम्बर है न यह ? आँखें फाड़कर देख लो, लाटरी तुम्हारे ही नाम की निकली है या नहीं ? नमिता, ओ नमिता, हाय, ! मैं हमेशा तुम्हारे ही नाम के लाटरी के टिकट खरीदा करता था। पूरे तीन

हजार टिकट खरीदने के बाद, सुन रही हो न, पूरे तीन हजार, हाँ, टिकट खरीदने के बाद कहीं इस बार तकदीर का दरबाजा खुला है।

(दरवाजा खुलने की आबाज)

एक अजनवी : क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?

नमिता : हाँ-हाँ, क्यों नहीं ? किन्तु यह आपका अपना ही चेहरा है न ?

अजनवी : (रुखाई से) क्या मतलब ?

नमिता : मतलब यह कि हमारे ये सारे मेहमान मुखौटे लगाकर आए थे :

अजनवी : ओ ·· हँसकर। समझा। जी नहीं, यह मेरा खाँटी अपना चेहरा है। जी, मैं नौकरी ढूँढ़ता चल रहा हूँ, दिन-दिन भर इस-उस ऑफिस में मारा फिरता हूँ, जी ? जी हाँ; कहीं जगह नहीं ! कोई रिश्वत माँगता है, कोई सिफारिशी चिट्ठी ! मेरे पास कुछ भी नहीं। यूँ ग्रेजुएट हूँ, तन्दुरुस्त और मेहनती हूँ, कोई भी काम कर सकता हूँ। मगर काम करूँ तो कहाँ करूँ ? ···

···निराश होकर स्टेशन लौट रहा था पैदल ही। महल्ले का महल्ला सोया पड़ा, सारे दरवाजे मुँदे-मुँदे, सिर्फ यहीं चहल-पहल मालूम दी ! पहले तो बड़ी झिझक हुई, फिर सोचा, कौन जाने, कहीं यहीं मेरी तकदीर का दरवाजा खुले !

मेरी नजर में काम काम है, आफिस का हो या कोठी का या चकले का ही ·· ···

(झन् से आबाज आती है)

नमिता : क्या कहा चकले का ? जनाब, अब आप तशरीफ ले जा सकते है, –यह चकला नहीं, घर है !

अजनवी : (भौंचक-सा) घर है ? चकला नहीं ? ये पी-पीकर बेहोश पड़े हुए लोग आपके घर के आदमी हैं ! यह शर्ट फाड़कर ऊपर की ओर हाथ उठाए हुए सज्जन आपके पति ? यह ठर्रे की बदबू से कमरे को भरनेवाले महाशय आपके भाई · ?

नमिता : कोई हों, आपको किसी के घर के निजी मामलों में दखल देने का क्या हक है ? मैंने कहा, आप जा सकते हैं। यह घर इनका है, इसे स्वर्ग बनाएँ या नरक, इसकी जिम्मेदारी इन्हीं पर है।

अजनबी ; अच्छा बहन जी, मैं जाता हूँ; अभी चला जा रहा हूँ, मुझे माफ करना। मुझसे अनजानते बहुत बड़ी गलती हो गई।

(किवाड़ों की चरमराहट)

राम : भाई जान ! आज क्या कोई खास बात है ? आज सारी रात रिहर्सल में ही निकल गई ! (इधर-उधर देख कर)

चन्दन : अरे ! नहीं राम ! आओ-आओ, बैठो, तमझे नहीं ! प्रतिभा का यही तो वह असामाजिक पहलू है जिसके चलते मामूली लोग प्रतिभाशाली को पागल कहते हैं !

राम : मैं कुछ समझा नहीं चन्दन ! यों समझने के लिए ही आया हूँ !

चन्दन : तो यह बात है ! तुम पड़ोसियों को यह बेवक्त की शहनाई नहीं अच्छी लग रही और इधर सुरेन्दर और नमिता हैं जिन्हें कल ही रंग-मंच षर उतरना है !

राम : यह बात नही है चन्दन ! मुझे भी थोड़ी-बहुत प्रतिभा की पहचान है। मैं जानता हूँ, प्रतिभा को वश में रखना बहुत कठिन है ! कब, कैसी प्रेरणा मिलेगी, कब किधर से पुकार आएगी, कब घर-द्वार छोड़कर चल देना पड़ेगा, इसे तुम्हारी कलाकार बहन भली-भाँति जानती है

नमिता : (उखड़े गले से) क्या कहा, क्या ? राम बाबू, जरा फिर से कहिए ! मैं पूछती हूँ, भैया के हमसाये या दोस्त-अहबाब को मेरे बारे में कोई भी राय कायम करने का कैसे हक पहुँचता है ? मैं किस-किस की नाजबरदारी करती फिरूँ ? मेरे घर में मेहमानों का तांता लगा रहे और मैं उनकी खुराफातों या रंगरलियों में शामिल होऊँ, तब मैं अच्छी-भली कहलाऊँ, यह नामुमकिन है, असंभव है ! हुँ ! चले आते हैं किसी के घरेलू जीवन में दोष देखने।

चन्दन : (डपट कर) नमिता ! यह क्या बदतमीजी है ? राम सगा भाई-जैसा है।

नमिता : तुम्हारे ये इशारे न होते तो भला फिर किसकी मजाल थी भैया, जो तुम्हारी बहन की तरफ कनखियों से भी देखता। मौके-बेमौके आए दुआ-सलाम के लिए तो चाहा, मैं भी इनके भद्दे मजाक की लपेट में आ जाऊँ। तुम्हारे सामने मेरा नाम उछाला जा रहा है, नाक पर सुपारी तोड़ी जा रही है और तुम चाहते हो, मैं मुँह सी लूँ !

राम : चाहे मेरा नाम राम हो, मैं मगर हूँ मायावी रावण - यही तो तुम कहना चाहती हो नोमी ! तो सुनो, मैं रावण हूँ ! चन्दन मेरा मित्र है, चाहो तो उसे भी तुम विभीषण समझ लो !

लता : ओह-हो ! आज ऐसी कैसी हवा वही है, जिसे देखो वही नोमी के नाम को निशाना बना रहा है। बड़ी मुश्किल से सुरेन्दर ने तीर-धनुष समेटे तो अब राम धनुष तानकर खड़े हो गए।

राम : नहीं भाभी, तुम राम को बेकार बदनाम कर रही हो, मैं तो चाहता हूँ, नोमी सुरेन्दर से शादी कर ले, फिर यह खटपट हमेशा के लिए खत्म हो जाए ! बकने वाले मुँह की खाएँ, ये दोनों मिलकर कला का नाम रौशन करें, कटरे वाले जय-जयकार करें कि कला ने दो दिलों के बीच दहेज को आने ही नहीं दिया।

सुरेन्दर : (पियक्कड़ों की-सी आवाज में) वाह राम भाई ! वाह ! जी चाहता है, नमिता का हाथ झटक कर आपके गले से लिपट जाऊँ। क्या गला पाया है आपने ? कैसी मीठी आवाज है आपकी !

चन्दन के कहने पर मैंने पी ली। (जमुहाई और हिचकियाँ) न पी होती तो अभी अभी छककर आपकी आवाज पीता ! वाह-वाह ! एक-एक शब्द, एक-एक घूँट !

नमिता : सुरेन्दर, होश ठिकाने है न ? तुम मेरे चन्दन भैया को बदनाम करते हो। जो खुद कभी नहीं छूता उसने तुम्हें पीने कहा ? पीने ? क्यों ?

सुरेन्दर : (हिचकियाँ ले-ले कर)

मैं बदनाम करूँगा, हजार बार करूँगा, तुम क्या करोगी। तुम्हारे भाई ने हाँ, चन्दन ने…कहा—'पी लो तो धड़ल्ले से नोमी का हाथ माँग सकोगे—लता भाभी से।

कहने लगा, तुम एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हो। और यह भी जानते हो कि मेरे पास तिलक-दहेज के लिए कानी कौड़ी तक नहीं है।

नमिता : (रोनी आवाज में)

दहेज, दहेज, दहेज ! ओह ! तो यह बात है ! भैया दहेज के डर से मेरा हाथ तुम्हारे हाथ में देना चाहता है ?

चन्दन : (तड़प कर) यह सरासर झूठ है ! सुरेन्दर नशे में अनाप-शनाप बक रहा हैं !

नमिता : (रो कर) नहीं भैया, सुरेन्दर तुम्हारे सामने झूठ नहीं बोल सकता। सच तो यह है कि वह झूठ बोलता हा नहीं है, मैं उसे अच्छी तरह जानती हूँ ! ओह भैया तुम्हें पहचानने में मुझसे कैसी भयानक भूल हुई ! तुह मुझे सब्ज बाग दिखाते थे, मैं बावरी उसे सच समझ बैठती थी !

सुरेन्दर : (सँवर कर) यह कैसा बचपना है ? तुम अपने पूज्य भैया को बुरा-भला कह रही हो !

चन्दन : (तड़प कर) कहने दो, उसे मत रोको सुरेन्दर, भड़ास निकाल लेने दो, जाने कब से घुट रही होगी !

नमिता : (रो-रो कर) तुम ठीक कहते हो भैया ! माँ-बाप का सर से साया उठ गया तो तुम्हीं मेरे सब कुछ थे -माँ, बाप, भाई ··! जब भाभी ने मुझे बताया, मैं तुम्हारा सिरदर्द बनी हुई हूँ; मेरे लिए तुम्हें क्या-क्या नहीं करना पड़ता, है, तो सच कहती हूँ, मेरा जी बिखर गया था। फिर भी ··

चन्दन : (तड़प कर) नोमा, मेरी बात तो सुन ! कभी मेरा सरदर्द न बनी। तेरे ही हठ करने पर मैंने शादी की थी, बाल, की थी या नहीं ?

(दुचित्ता होकर) ओह ! तो तू अब बोलेगी ही नहीं ! ठीक तो है, मुझ—जैसे झूठे, मक्कार से बोलना भी क्या !

सुरेन्दर : (चीखकर) नहीं, अब और नहीं, मुझसे इकट्ठे इतना झूठ नहीं बोला जाएगा।

नमिता : (चौंककर) सुरेन्दर ! यह क्या ? तुम भी झूठ बोलते हो ? कह दो – मैं नशे में हूँ।

सुरेन्दर : नमिता, यह तुम्हारी नादानी है ! चन्दन जैसा–भाई तो कहीं चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा।

नमिता : (तिनक कर) क्यों नहीं ! बल्कि मैं तो कहूँगी तुम जैसा जीवन-साथी भी कही ढूंढ़े न मिलेगा न चंडूखाने में, न चकले में।

सुरेन्दर : (चीखकर) नमिता ! ख्वाह-म-ख्वाह क्यों आग फाँक रही हो ! ऐसे भी क्या सुर्खाब के पर लगे हैं तुममें जो आँख नीली-पीली करती हो ? आसमान पर चढ़ी जाती हो ?···

मैं चन्दन भाई के एहसानों तले से दबा हूँ, नहीं तो ··

नमिता : (तिनक कर) एहसानों तले दबे हो ? नहीं तो···? मैं पूछती हूँ पहेलियाँ ही बुझाते रहोगे या कुछ साफ-साफ कहोगे भी ?

सुरेन्दर : (गहरी साँस लेकर) कहूँगा, कहूँगा, सब साफ-साफ कहूँगा, नहीं क्यों कहूँगा ?

यों सब कुछ बता देने में कम उलझन नहीं, फिर भी सुनो, दरअसल बहुत देर से मेरे मुँह पर यह बात आ रही थी मगर मैं जैसे-तैसे पूछने के क्षण को टाल रहा था···।

नमिता : (चिढ़कर) 'था' नहीं, 'हो' कहो ! जब सब बोलते थे : तुम्हें लुकाव-छिपाव पसन्द नहीं, फिर यह आज हो क्या रहा है ?

सुरेन्दर : खिचे स्वर में) चन्दन भाई के साथ एक अरसे से खाता-पीता रहा हूं, मेरी जिन्दगी आज जैसी भी है, इसे बनाने-बिगाड़ने वाले यही हैं। मेरे घर वाले दहेज की बड़ी रकम चाहते हैं और मैं सिर्फ तुम्हें। आज जब तुम्हारे नाम की लाटरी निकल गई तो भला हो सरकार का, बैठे-बिठाए बात बन गई। मैदान साफ हो गया। खुशी सँभाले न सँभली और हम सब ने मिलकर खूब छक कर पी ली, फिर तय हुआ कि तुम्हें भी इस खुशी में शरीक कर लिया जाय। (हिचकी ले कर) झूठ मैं बोला जरूर, मगर तुम्हारी खातिर— समझी नोमी, सिर्फ तुम्हारी खातिर ! दरअसल जब से यह लाटरी का धन्धा चालू हुआ है, मैं ही नहीं, तुम्हारा भाई चन्दन ही तुम्हारे नाम का टिकट खरीदता रहा है, तुम्हारी खातिर, सिर्फ तुम्हारी खातिर।

[नमिता हसते-हसते रो पड़ती है]

भैया, यह मैं क्या सुन रही हूँ ? तुम्हारी उदारता मुझे शराब के अन्धे कुएँ में धकेल कर ही दम लेगी ? लाटरी के रुपयों से शराब और शराबी के अलावा क्या कुछ नहीं खरीदा जा सकता ? शिक्षा की ऊँचाई, चरित्र की गहराई,—एक सच्चे जीवन-साथी के चुनाव की प्रतिभा, कुछ नहीं ?—कुछ भी नहीं ? जानते हो भैया, आँधी के झोंके को पका फल नहीं झेल सकता, वह पतित होकर रहता है। कर्मशक्ति के अभाव में जो अनायास हाथ लग जाता है, उसका डँठल कमजोर होता है, उसे क्षणिक सुख-सुविधा की आँधी उड़ा कर ही दम लेती है।

तुम मिहनत-मजूरी कर के जो लाते हो उससे तुम्हारा काम क्यों नहीं चलता ? तुम मुझे जितना पढ़ा सकते हो उतना ही पढ़ाओ न, फिर मैं अपने पाँवों पर खड़ी होकर जो कर सकती हूँ, कर लूँगी, लेकिन भैया, यह कैसा प्यार है, जो एक बिना माँ-बाप की बहन के सिर शादी का बोझ लाद कर छुट्टी पा ले ! आधी रात के सन्नाटे में ढेर सारे पियक्कड़ इकट्ठे कर शादी-ब्याह-जैसे जीवन के सबसे गम्भीर विषय को ऐसी भोंड़ी नाटकीय अदा में पेश करें ?

चन्दन : (चीखकर) नोमी, देखता हूँ कि ··

नमिता : (बात काट कर) कि · पी तुमने है और मैं नशे हूँ – यही न भैया ?– यही न ?

ओह भैया ! तुम छिछले-छिछले तीरने वाले निकले ! यह भी भूल गए कि अब ब्याह पर जाति और धर्म की प्रभुता नहीं है ! तुम मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो !

चन्दन : फिर सुरेन्दर के साथ तुम्हारा मेल-जोल कोरा दिखावा ही दिखावा था ?

नमिता : नहीं भैया, सुरेन्द्र मेरी कला-प्रतिभा का माध्यम है ! निश्चय ही नाट्यकला में उसकी गहरी पैठ है उसके स्वर-बैचित्र्य और भाव-वैचित्र्य से मुझे अपनी आत्मा की गहराइयों को उछालने की प्रेरणा मिलती हैं, कला की ऊँचाइयों पर उसके अभिज्ञान के निगूढ़ संकेतों के सहारे मैं कीर्ति-पताका फहरा आती हूँ किन्तु मैं उसकी ध्वनि की अनुकृति या आवृत्ति नहीं, प्रतिध्वनि हूँ,—मौलिक प्रतिध्वनि !

चन्दन : (गहरी साँस लेकर) तो यह बात है ?

नमिता : हाँ भैया ! नाट्यकला टीम-वर्क है ओर परस्पर सहयोग की भी एक सीमा है ।···

माधवी पखवारे भर से मेरे लिए तरह-तरह की चीखें रिकॉर्ड कर रही हैं, मेरी आवाज वैसी तीखी और मर्मभेदी नहीं है न, मैं अब उसकी ध्वनि में अपनी प्रतिध्वनि मिला कर जन-मानस को आंदोलित करूँगी। (फीकी हंसी हंस कर) ध्वनि का प्रभाव तो देख ही रहे हो ! कैसी-कैसी प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हो रही हैं ! हाय रे, कोई किन्तु उसके घर जाकर सच्चाई का सामना नहीं करना चाहता ! ऐसे में [उच्छवास छोड़कर] मेरी प्रतिध्वनि का क्या होगा !

बेनीपुरी जी

प्रभञ्जन के प्रबल झकोरों से आक्रान्त एक अश्रान्त यात्री—जो पहाड़ पर बंजर देख कर चुपचाप नीचे नहीं उतर आया, बंजर में पसीने से सींच कर हरियाली जोड़ता रहा।

मैं जब भी बेनीपुरी पर कुछ लिखने बैठता हूँ, लेखनी बिफर उठती और असामर्थ्य की अतलता में ऊभ-चूभ होने लगती है।

वह अपनी तूफानी मौजों को सागर की लहरों में गूँथ देते थे; तेज हवा के झक्कड़ उनकी कश्ती के डाँडों से बँध जाते थे। सैकड़ों बार अंगार सिर पर धर कर उन्हें फूल चुनते देखा था मैंने।

फौलाद उगलती लेखनी 'माटी की मूरतें लिखती है या गढ़ती है ? 'लाल तारा' उगाती है धुन्ध-धुँधलके में या नया आसमान तलाशने के सिलसिले में धरती के ज्वालामुखी का एक उल्कापिण्ड ही उछाल देती है ऊपर की अँधियारी गैलों में ? 'गेहूँ और गुलाब' में ठोस यथार्थ और मखमली कल्पना को एक ही गैलरी में सजाती है या जिन्दगी के ताने-बाने में दोनों की शख्सियत को एक ही कैनवास देती है :—एक अच्छा इंसान होने के लिए पेट भरना ही काफी नहीं, सौन्दर्यबोध भी लाजमी है ?

उनकी खंजन-सी फुदकती लेखनी की तब बहुत चर्चा थी, मगर मैं तो उनके सदाबहार व्यक्तित्व के चारों ओर उड़ते ठेठ हँसी के अबरख के चूर्ण-जैसे हल्के-चमकीले कणों पर ही लट्टू था।

कैसी-कैसी मुसीबतों में उन्हें करीब से देखा था, ठहाके कभी थमते न थे। वक्तृत्व-कला में किसी भी खद्दरधारी नेता से कम माहिर न थे, मैं मगर उनके कहकहों के फव्वारे में ही भीगा था।

बड़बोले बोलेंगे : कितने बड़े थे वह ! मैं जानता हूँ : जन-जन के कितने प्यारे थे वह !

पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी उनके बहुत बड़े प्रशंसक थे। रेखा चित्र लिखने में चतुर्वेदी जी अपने को लासानी जो समझते थे। बेनीपुरी जी उनसे प्रशस्ति-पत्र पाकर बाग-बाग हो जाते थे। चतुर्वेदी जी

कैसे भी पत्रकार हों, साहित्यकार वह न थे। मैं जनवाद का ऐसा तरफदार नहीं कि साहित्य के रसोई घर में घुसकर राजनीति की डेढ़ चावल की खिचड़ी पकानेवाले को दोस्तोएव्स्की और गोर्की का दर्जा दे दूँ, जबकि जिन हाथों में नकेल है वे खुशी-खुशी हिन्दी की नाक में सुतली पिरो रखते हैं। नक्कारा बजाकर इतिहास पर सवारी कसते हैं। तभी तो 'एक भारतीय आत्मा' राष्ट्रकवि कम, पत्रकार ही बेशी हैं! बिहार न प्रवर्तक है, न उन्नायक, न मौलिक। नकलची ही नकलची है। नमाज पढ़नेवालों की देखादेखी उठक-बैठक भर कर लेता है। सहचर नहीं, अनुचर है।

आगे आलोचना काव्य की ही होती थी,—पूरब-पच्छिम के कुछ तगड़े नामों की दुहाई देकर ढेर सारे सिद्धान्त बघारे जाते थे। फिर आलोच्य कवि पर कभी फब्तियां कसी जाती थीं, कभी सहस्रनाम का पाठ किया जाता था। अभी वह हरापन टूटा नहीं है। हिन्दी के मुँह की लाली रखने वाले मठाधीश, अनुयायियों की अनुपस्थिति में भी, सर्वसम्मति से यह कार, वह कार घोषित कर दिए जाते हैं। और अपने आलोचक के माथे पर चढ़ कर कलम पर उतरते देखे जाते हैं।

प्रत्येक मौलिक स्रष्टा के माध्यम से एक-न-एक शैली जन्म लेती रहती है, किसी श्रेष्ठ साहित्यकार को शैलीकार कहने से महज उसके अन्दाजेबयाँ और तर्जेबयाँ की ही तारीफ होती है, पाठक पहले उसी ओर मुखातिब होता है। बेनीपुरी जी का कथ्य काफी बुलन्द है, वह केवल शैलीकार कदापि नहीं।

लहेरियासराय के बंगाली मुहल्ले में प्रख्यात चित्रकार उपेन्द्र महारथी के बंगले पर मैंने पहले पहल बेनीपुरी जी को देखा था। वह उन दिनों वहीं रह रहे थे। मिले वहीं की कमला मेमोरियल लाइब्रेरी में एक जलसे के मौके पर। यह बात ग्यारह दिसम्बर, उन्नीस सौ इकतालीस की है।

सुनार की सौ चोटें जो बारीक शिल्प गढ़ती हैं, लुहार की एक ही चोट उसकी चिन्दी-चिन्दी उड़ा दे सकती है। बकबासियों ने बताया था, बेनीपुरी जी मेरे गीत सुनकर प्रीत न होंगे; वह दिनकर की हुङ्कार के तरफदार हैं। मगर उस जलसे में वह तोड़तोड़ मुझे सुनते न अघाए। फिर तो ऐसी गहरी छनी कि कुछ न पूछिए। गाँठ पर गाँठ पड़ती चली गई। सोचा : चलता लेखा है, अभी ही कुछ ले

लूँ,-कल चला जाऊँगा, फिर जाने कब मिलना हो! कहने पर जो लिखा, वह खुसर-फुसर करनेवालों के मुँह में लगाम देने के लिए काफी था :

जानकीवल्लभ

एक अशान्त आत्मा, जिसके कंठ में कोमल स्वर, मस्तिष्क में सपक्ष कल्पना और हृदय में भावना का सागर —

जहाँ एक ही साथ समुद्र का हाहाकार, पंछी का कलरव और वंशी की तान

घुँघराले बाल, उन्नत ललाट, प्रेमल आँखें, नुकीली नाक और दोनों ओष्ठ-अधर, जो कभी अट्टहास तक दे सकते हैं, मगर जिन्हें एक मन्द मुस्कान देने में भी संकोच हो! ...

जो प्रकृति-प्रदत्त अपने गोरे रंग को साधना की आँच में तपा-तपा कर ताँबा बनाने पर तुला हो!

जो ज्ञान की इतनी बड़ी गठरी लेकर भी अपने को बीच में नहीं खड़ा कर सकता,—चाहे इस ओर या उस छोर! —

आप जिसके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकते! -

अभी पच्चीस वर्षों की इस छोटी-सी उम्र में ही जिसने पच्चीस तिनके चुने; पच्चीस डालों को देखा-भाला, लेकिन जो अपने लिए एक घोंसला भी न बना सका!

और जिन्दगी तो शायद उड़ान का ही नाम है न! उड़े चलो ओ मानव, ओ पंछी, अपने पंखों की फड़फड़ाहट से वायुमण्डल को आन्दोलित करते, अपनी काकली से रिक्त हृदयों को भरते!

—रामवृक्ष बेनीपुरी

बेनीपुरी के शब्द चित्र सुना कर निहाल होनेवालों ने इसे पढ़ा तो चट्टे-बट्टे लड़ाना भूल गए! मुझ-जैसे नाचीज पर, तब तो तब, अब भी इससे अच्छा किसी ने क्या लिखा है?

आज इतने वर्षों बाद भी उस दिन की याद कर चरचरा उठने की स्थिति तक स्नायुतन्त्र तन जाता है। बारह घंटों की उस मुसल-सल बातचीत में बेनीपुरी जी ने मेरी जिन्दगी के अँधियारे गलियारों की धुँधली परछाइयाँ भी देख ली थीं और आह! मेरे इतने सारे दिन विद्वान् तोतों, शेखी बघारने वाले विनम्रों और जीहजूरी करनेवाले स्वाभिमानियों के बीच यों ही बह गए! मैं इस पारद पंखी काल प्रवाह से दो-चार पृष्ठ भी न छान सका।

यों मैं अकृतज्ञ पीढ़ी की उपज नहीं, फिर मुझसे ऐसी चूक कैसे हो गई?

'हिमालय' निकाला तो पहले अङ्क से ही मुझे साथ ले लिया।

'नई धारा' निकाली, तो भी पहले ही अङ्क से मेरी रचनाएँ प्रकाशित करने लगे। कितने ही सम्मेलनों के वह उद्घाटक रहे मैं अध्यक्ष! कितने ही साहित्यिक मञ्चों से हम साथ-साथ बोले, फिर भी क्यों मेरी चुप्पी साँसों के भीतर ही उनकी साधना की गहराई मापती रह गई? किन-किन अनजान घाटियों में न भटकती फिरी; मगर इधर रुख न किया, तो न किया!

हाँ, मेरी विद्या नए साँचे में नहीं ढली; सरसराते रेशम के-से स्वर लोहे की कलम से छानना न आया; नए के गिर्द चक्कर भर काटा, फिर अदबदा कर एक किनारे आ लगा। कुछ कहना चाहा, होठ हिलकर रह गए; लेखनी हचकोले खाती हुई लपकी, मगर इतना तकल्लुफ बरता कि लुढ़क गई। कोशिश की, कामयाब न हुआ।

अट्टहास के प्रकाश में अँधेरा चितेरा न बन सका। उस खुलाव में सिकुड़न न थी, गुलाबी हँसी से हर घड़ी खिले चेहरे में मुरझने का आसार न था। मैं मगर माथे और भवों को खरोंचता ही रह गया।

जिन दिनों जयप्रकाश जी पटना में, उप्पल के मकान में, रह रहे थे, मुझे बेनीपुरी जी ने उनसे बड़े तपाक से मिलवाया था। मैंने उन्हीं दिनों जयप्रकाश जी पर एक कविता लिखी थी जो 'आज' के साप्ताहिक संस्करण में छपी थी। जिसमें एक विशेषण था 'अगस्ती प्यास'। यह कुछ दिन चर्चित रहा था।

बेनीपुरी जी ने तो लोकमानस में हंसिनी-सी तैरती रहने वाली जीवनी ही जयप्रकाश जी की लिख डाली थी, जो वर्षों के सान्निध्य की सीप से मोती की मानिन्द ढली थी।

वह क्या निरे साहित्यकार थे ? नहीं, कर्मभूमि उनकी भावना के आकाश से कम न थी।

केवल पत्रकार थे ? नहीं, 'माटी की मूरतें' उनकी बेमिसाल सर्जनात्मक प्रतिभा की भरपूर पहचान है !

तो क्या ढेर सारे साहित्यकारों के– माखनलाल चतुर्वेदी और गणेश शङ्कर विद्यार्थी की तरह वह निर्माता ही थे ? नहीं, पिछत्तर कलाकृतियाँ उनकी हरी-भरी साहित्यसाधना की ओर सजग संकेत करती हैं।

एक समादृत समाजवादी नेता भर थे ? नहीं; भले ही वह आचार्य नरेन्द्रदेव और डा० लोहिया की कोटि के विद्वान और विचारक न रहे हों, परन्तु उनकी निज भाषा के प्रति उत्कट प्रीति और साहित्य की मर्मज्ञता किसी से कम न थी। सच तो यह कि वह जैसे उद्‌भट कर्मठ मनुष्य थे वैसे ही प्रतिभाशाली जन-साहित्य-स्रष्टा !

निःसङ्गता जहाँ दृष्टि-दोष हो, वहाँ समग्रता का आकलन कदाचित ही निर्भ्रान्त होगा। उन्हें प्रेमचन्द-जैसा कथाकार सिद्ध करना कठिन है। अम्बर भर में उमड़ी घन-घटा को बिजली की एक कौंध नहीं भी उजागर कर सकती है।

मेरे विचार से बेनीपुरी जी ने जीने के लिए ही ज्यादा लिखा, अमर होने के लिए गढ़ीं केवल 'माटी की मूरतें।'

साहित्यिक सम्मेलन ही हमारे मिलने के स्थल होते थे। एक दिन बेतिया में हम इकट्ठे ठहरे थे। मेरे रोम-रोम में एक संकोच-सा समाया हुआ था—विचारों को ऊँचाइयों पर विचर कर जो उतरा था ! बेनीपुरी जी के सबल-सुदृढ़ चेहरे पर उड़ान भरने का-सा उल्लास खेल रहा था। अटपटी बातें डेलिवरी की खूबी से चटपटी हो गई थीं। मैं अपने लहरते बालों पर थपकियाँ दे-देकर सुनता रहा। उनकी बेफाँस साँसों की थकन कहकहों में खुलती-मुँदती रही। मुझे नींद आ गई।

उठा तो देखा, बेनीपुरी जी नोटों की गिनती कर रहे थे। हँसे तो आँखें मन बन गईं। कोई-सी भी बात हसीन और रंगीन हो जाती थी उनके जादू से। मेरी अवश अलसाई पलकों ने अपनी धुँधली-धुँधली-सी सनसनियों को कोंचा। उथले-उथले तैर कर अब

मेरे सपने किनारे के करीब डूब चुके थे। सपनों से पीछा छुड़ा सत्य को रू-ब-रू देखने लगा। बोले : आप सोए पड़े रहे, मैं इतनी देर में 'बेनीपुरी-ग्रन्थावली' के दस ग्राहक बनाकर आ गया। आपको यहाँ क्या देंगे—हद-से हद सौ-दो-सौ, मैं मिनटों में हजार का हिसाब-किताब कर आया। फिर इस बात में तनिक भी शुबहा नहीं कि जाहिर न होने पर भी यहाँ की आमदनी बट्टे खाते हर्गिज न होगी।

मेरे मुँह से सहसा कोई बोल न फूटा। एकदम सकता मार गया।

एकबारगी गँवारू लहजे में बुदबुदाया : 'इत्ते सारे रुपए क्यों कमाते हैं आप ?'

× × ×

अध्यक्ष-पद से कोरी सतही अनुभूति बिखेरते हुए मैंने अपने आपको आजमा लिया था। अन्तिम विश्लेषण में साँसों की हल्की-सी भी डगमगाहट न रही। फूलों की क्यारियाँ फाँद कर दलदल में लहलहाते सरपत-वन में भ्रमण कर आया था। सूनेपन में जिन्दगी का ठाठ बाँधता रह गया था। मगर बेनीपुरी जी की खुशी छलकी पड़ती थी :

'तो ऐसा बोलते हैं आप !'

मुझे भूख लग रही थी। बेनीपुरी जी कनकैया उड़ा रहे थे ! मैं लाज-लिहाज का मारा- बारह साल बड़े होंगे वह—डेढ़ बजे रात में गर्म-गर्म खाने की जगह यह दाँत कटकटानेवाली प्रशंसा का ठंडा रस ही पीने लगा। छक कर दोपहर की तरह फर्श पर बिछे गुदगुदे गद्दे में धँस गया।

प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुमान-विहीन नहीं होता। शब्दों के सारे अर्थ नहीं निचुड़ गए। आवाजें हर जिन्दगी को नहीं जगातीं। और लो, ऊँचे-ऊँचे पेड़ों पर आकाश उतरने लगा

चौंककर उठ बैठा। भोर-भिनसारे रात के खाने के नाम पर जलजला आया हुआ था। भँवर में पड़ी हुई की तरह रोशनी पानी-पानी दाल पर काँप रही थी। भात की भाप से ऊपर बादल मंडला रहे थे। कपड़े की दीवारें कभी दाएँ, कभी बाएँ तूफान की कश्ती की तरह झोंके खा रही थीं।

और इस भीड़-भगदड़ में भी बेनीपुरी जी हैं कि लिखते जा रहे हैं; लिखते ही चले जा रहे हैं। चश्मे के भीतर निश्चल पलकें पसीज रही हैं। कलम टुक रुकती, फिर सरपट भागने लगती है।

पलकर को मेरी प्रज्ञा गूलर के फूल बटोरने चली गई। उनके पास परोसी रखी थाली देख एक अदद मक्खी की तरह भन-भनाया : 'क्यों गुलाब को गेहूँ बनाने पर तुले हुए हैं ?'

फिर मन ही मन भुनभुनाया :

'इतना क्यों लिखते हैं आप ?'

× × ×

कन्धे कमजोर न थे, फिर भी वह टूटने से कहीं अधिक जानलेवा मोड़ पर मुड़ गए थे। घर-गृहस्थी का भारी बोझ, जेल-यात्राएँ, जयप्रकाश जी के दाएँ हाथ-से अथक कर्मठ, जीवन और समाज और साहित्य से दो-दो हाथ करते उमर सिराई। वह कभी हँसते बेतहाशा, कभी टकटकी लगाकर देखते रहते—जाने क्या ? कभी फटी-फटी आँखों से झर-झर आँसू झरने लगते,—जाने क्यों ?

क्या किसी सोच ने उनकी तनहाइयों को चीथ डाला था ?

क्या नींव की पुख्तगी के पैगम्बर की दबी हुई चीख जीभ की ऐंठन की चुप्पी में ढल गई थी ?

क्या ऊँची उपलब्धियों से एकता की अनुभूति अब नए जीवन में जन्म लेने की आहट सुन रही थी ?

मुजफ्फरपुर के टाउन हॉल में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से उनकी सान्ध्य आरती उतारी जा रही थी। सरकारी व्यवस्था थी।

मेरे हाथों में भी एक माला थमा दी गई कि उन्हें निःशब्द पहना दूँ। किसी के गले पड़ने की बात न होती तो मुझसे बोले बिना न रहा जाता : सुना है, सरकारी फूलों का इस्तेमाल दरबारी तौर पर होता है, बेनीपुरी जी तो स्वयं जनता के प्रतप्त हृदयों के तुषार-हार हैं!

मैं जब झुककर साहित्य-देवता को पुष्पमाल्य अर्पित कर रहा था, वह दोनों हाथों से मेरे दोनों पैर पकड़े हुए थे और उनकी मुस्काती-सी आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही थी।

★

दो गीत

(१)

बीत गए अब वे दिन मेरे
जब पथ पर अटकी रहती थीं—
आंखें सांझ-सवेरे !
न्यारे-न्यारे बोल पंछियों के, प्यारे लगते थे,
अर्थ ध्वनित होते थे जिनसे—
छिन-छिन नये, घनेरे !
रुधिर धमनियों में हो चंचल लहक उफनने लगता
दूर-सुदूर अदृश्य दिशा जब—
अजब बांसुरी टेरे !
आसपास का आसमान सूना-सूना-सा लगता
और क्षितिज मुसका-मुसका कर—
कुंकुम-गंध बिखेरे !
स्वप्न-सजाए नयन, अकारण अलसाए-से प्राण,
झोनी-झीनी एक छांह छाए,—
दोनों को घेरे !
बीत गए अब वे दिन मेरे !

(२)

बीते जाते हैं ये दिन भी !
नव अवदात प्रभात, निठुर उर–
संध्या श्याम, मलिन भी !
मन की सघन वेदना घन की तड़प–
तड़ित-सी लगती,
यह कैसी मीठी, तीखी है,
कैसी मृदुल, कठिन भी !
किसे दोष दूं यह भी तो हूं समझ
नहीं कुछ पाता,

मैं मरीचिका का उद्गम हूं,
और हताश हरिण भी !
किन्हीं दृगो में नीर ढूंढ़ता,
पीर किन्हीं प्राणों में,
रवि की छवि जब हो धूमिल–
तब जल में जले नलिन भी !
बीते जाते हैं ये दिन भी !

❀

सन्नाटे की गूंज

जैनेंद्र कुमार

हिन्दी का हो, जैनेंद्र को न जाने, —प्रेमचन्द के बाद का सबसे पहला नाम,– सम्भव नहीं। करघे में सस्ती कपास के कीमती धागे प्रेमचन्द के थे। बारीक बुनने पर पूरी पकड़ बैठना मुश्किल होता है, बदाबदी में भी आसान नहीं होता। प्रेमचन्द आसान थे, क्योंकि उनकी खुरदुरी बुनावट के काले-धौले धागे ताने-बाने के जोड़ पर भी बेजोड़ दिखते थे।

जैनेन्द्र बेशक रुखड़ी खादी पहनते, भाषा की बुनावट में तो बारीक से बारीक रेशमी धागे ही इस्तेमाल करते थे। मैंने पढ़ कर पाया था, उनके कोई से भी दो वाक्य मन के सन्नाटे को गुंजा देते थे। तन भरी-पुरी तसवीर से एक आंकी-बांकी लकीर में सिमट कर; दूने सूनेपन में कौंध उठता था। प्रेमचन्द्र के संप्रेषण का ढंग न्यारा था। वह एक सितारे पर नजर टिकाने के लिए सारा का सारा आकाश तारों से भर देते थे।

मैं जैनेन्द्र को, डा० माचवे के दार्शनिक संकेतों के बावजूद विचारक मात्र मान कर नहीं चल सकता था। मंतव्य या वक्तव्य आत्मप्रकाश हो, दावा नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र पहले शिल्पी हैं, स्रष्टा हैं, फिर वह चाहे निष्क्रिय ज्ञानी; चतुर चिंतक या तटस्थ द्रष्टा हों, अंतर्विरोध नहीं। उन्होंने नीत्शे, हक्सले या लारेंस की तरह किसी स्वतन्त्र चिंतन को साहित्य का श्वेत-श्याम परिधान नहीं दिया, कथ्य शिल्प के गीले ईधन को चिंतन की चिनगारियों से सुलगाया ही है।

हिंदी के दूसरे जडवादी बौद्धिकों से जैनेन्द्र भिन्न हैं। इनका बुद्धियुक्त (बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते) जीवन-दर्शन इन्हें समतल के समानधर्माओं की भीड़ से काट कर अलग कर देता है, क्योंकि इनके साहित्य का मूलभूत तत्त्व निरा बौद्धिक या युटोपियन न हो कर जीवन-ज्योति बन गया है—ऐसी ज्योति जो मनुष्य में देवता देखती है; कल्पित देवता नहीं, भरपूर पकड़ में आनेवाला देवता, वैसे दुनिया

में कौन है जो बुरा होना चाहता है और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है ?

एक दिन हिन्दी की राई-रत्ती तक का अता-पता रखनेवाले आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने मेरा जैनेंद्र से परिचय कराया था। मैं शरम के मारे गला जा रहा था, उन्होंने मेरे परिचय में, पाताल में धूप जो उगाई थी। उनकी विनोदिनी वाणी में समय की समग्र ऊर्जा समोई हुई थी। दृष्टि की वैसी विधेयात्मक और प्रभावोत्पादक तल्लीनता कचित, कदाचित ही देखने को मिलती है।

जैनेन्द्र जी की एकाग्रता घटनाओं की धुरी पर तेजी से घूमते हुए जीवन की प्रतिच्छाया जैसी न थी। उनके रूखे-सूखे चेहरे में सृजनात्मक प्रक्रिया की तेजी थी तो सतह से नीचे चमकती आंखों में अन्तर्मुखता को सही साबित करने की सुनियोजित प्रवृत्ति भी। जैसे टैगोर को देखकर टकटकी बंध गई थी, प्रसाद को निहार कर पलकों में ज्वार उमड़ आया था, बशक अभी वैसा कुछ न हुआ था। इस औसत व्यक्तित्व और वेशभूषा में आचार्य क्षतिमोहन सेन या शिवपूजन सहाय-जी जैसा, फिर भी एक अलौकिक अलगाव था। मैं कहूँ, उनकी आकृतिगत उदासीनता लारेंस की याद दिलाती थी।

जैनेन्द्र जी से फिर कुछ दिन मिलना न हो सका। इस बीच उदयशंकर भट्ट और जगदीशचन्द्र माथुर के कारण मेरे दिल्ली के कार्यक्रम बढ़े। रेडियो और उसके बाहर भी बार-बार आना-जाना पड़ा। एक दिन गोपालकृष्ण कौल ने बातों-बातों में बताया कि आज 'टेबुल टॉक' में जैनेंद्र का कोई जोड़ नहीं। बस, इसी अमोघ आकर्षण से खिंच कर मैं दूसरी बार उनके घर पर ही मिला। स्वागत-सत्कार के पश्चात जो विषय उन्होंने उठाया वह अन्तरात्मा में निःस्वार्थ और रचनात्मक प्रेम उत्पन्न या संगृहीत करनेवाला न था। पिछली रात उन्होंने हमारा रेडियो-कविसम्मेलन सुना था। उसी के संदर्भ में बोले कि अभी कुछ ही दिन पहले बिहार के कुछ शिक्षित दर्शनार्थी उनके निकट आए थे। उन्होंने उनसे पूछा था कि नये बिहार में सबसे समादृत कवि कौन है ? आगन्तुकों ने मेरा नाम बताया था। अलग से दिनकर के बारेमें पूछा तो वे साफ पहलू बदल गए थे।

मैंने कहा : सन ३९ में मैं बिहार में बसा। उस समय वहाँ कवि का अर्थ दिनकर था। उस दिनों जिस उत्साह और आदर से दिनकर

को सुना जाता था, मैंने प्रसाद, पंत, निराला के लिए भी वैसा आग्रह कहीं नहीं देखा था। आस्था और आत्मा की गहराइयों में मेरा डूबना-उतारना स्पृहणीय तो क्या, लज्जाजनक तक समझा जाता था। दिनकर पुरुषार्थ का पाठ पढ़ा रहे थे। देश के बड़े-बड़े नेता जो अनगढ़ गद्य में कहते थे, उसे वह पौरुष की हुँकार में पद्य-बद्ध कर कहीं अधिक प्रभावोत्पादक रूप दे देते थे। फिर उनका हाहाकार-विपथगा-काल का दहाड़-जैसा उत्ताल कंठ-स्वर हिन्दी में काव्यपाठ की रोष-आक्रोश-भरी शैली का जन्मदाता भी था। तब अपने प्राण आधी रात के सन्नाटे में दूरागत आह्वान के समान कोई अनसुना अनहद नाद सुन कर जैसे चिहुंक उठते थे :

किसने बाँसुरी बजाई ?

आपको जिसने भी कहा, झूठ कहा। मैं तो अंधेरे में रह आए किसी पीपल-पात का, हूं तो एक जुगनू हूं, दिनकर से मेरा क्या मुकाबला ?

हमारी बातों की अंगनाई में आधी-अधूरी धूप थी, एक ओर धूप-छाहीं चौरे पर कोई बिरवा उग आया था अनाम अभिज्ञान का। जैनेन्द्र के कुछ ही अनमोल बोल मैं संजो सका। अनायास मिलने पर बहुमूल्य का भी मूल्यांकन कहां हो पाता है ? उपलब्धि से साधना का छोर चाहे छू भी जाए, साधना के अभाव में उपलब्ध उपलब्धि भी कहां जुगोई जाएगी ?

जैनेन्द्र जी देते समय पात्रता बिसरा देते हैं, सघी वाणी रूखी-सूखी घास पर भी मोती बिखेरती चली जाती है। कैसा भी धुआं उनके गले में घुटन नहीं पैदा करता। इधर अपने राम के हाथों खुदी फूलों की क्यारियां फूलों का कब्रिस्तान बन जाती हैं। बातों के दर्म्यान वे हरदम आंखें खोले चौकस थे, सूक्ति-मुक्ता चुगते मेरी आंखें मुख्तसर-सी रोशनी में भी बारहा झपकतीं।

मैं जब उठा, मस्त और उनके संलाप के आलापीय स्वरों से सरा-बोर था। इकहरे, लचकीले और मजबूत विचारों के जैनेन्द्र जी के बोलने-बतराने का अलबेला अंदाज और वाक्यों के बीच तो' पर स्वरपात का बांकपन जी में समा गया था। भाषा सैलाब थी तो विचार-विस्तार प्रवाह में झलमला उठी ठंडी ज्योति ! सोच-विचार का यह व्यसन उन्हें अपने को भूल जाने की क्षमता न दे सका था,

उनका विवेक निर्विकार न था, यह अनुभव अपने जिए जीवन के आधार पर बार-बार होता था, फिर भी वाक्प्रवाह में बह आए विचार अपनी बहुमूल्यता सतह ऊंची करके ही उजागर करते थे।

प्रेमचन्द शिल्प में पारदर्शिता तक पहुँचे हुए सरल थे। परन्तु जैनेन्द्र जी की परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी-कोई भी प्रारम्भिक कृति अपवाद नहीं, जहाँ देखो, वकील या जज दिखता है।

राजघाट बापू की समाधि पर माल्यार्पण करने अवधूत-सा नंगे पांव, बिखरे बाल, पैदल चला जा रहा था। बापू सम्बन्धी पूर्व स्मृतियां मन-मस्तिष्क पर छाई हुई थीं। सहसा बिजली का-सा धक्का लगा, जैनेंद्र जी सपत्नीक कार से कहीं जा रहे थे, मुझ पर नजर पड़ते ही गाड़ी से उतर पड़े। कुशल-सम्वाद पर ही न रुके, पान की दुकान तक खींच ले गए। यही सेब का फुनगी से मिट्टी पर टपकना है? गुरुत्व की, फल-फूलों-लदे की आकस्मिक लाचारी है? जैनेंद्र के बिरस व्यक्तित्व की यह विभूति ही है या अन्तःसंयत प्रत्युत्पन्नमति जो अभिभूत चाहे न भी करती हो, एक दफा छूती जरूर है? वह गए तो पल भर के लिए गति रुक-सी गई। सामने खिड़की पर जर्द गुलाब की एक बेल चढ़ी हुई थी, जो अपने ही झुरमुट के छज्जे से बाहर की तरफ झुक आई थी। उसकी उलझी टहनियों में बीरान और खामोश-से कुछ खिले-अधखिले फूल झूल रहे थे। हल्की, बेरङ्ग, नम धूप में पांवों से लिपटी, धूल में सिमटी गति दुर्लक्ष्य लक्ष्य की ओर सरका ले गई।

गिरिडीह में बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था। जेनेंद्र जी उद्घाटन करने आए थे। हम दोनों को 'गंगा मैया तोहे पियरी चढ़ैबौ' नामक अतिसफल भोजपुरी-चित्र के निर्माता की नव्य-भव्य कोठी पर ठहराया गया था और उनके आतिथ्य में निरा ऐश्वर्य नहीं, पारिवारिक आत्मीयता का मर्मस्पर्शी प्रदर्शन था। मैं किसी जनम में मथुरा का चौबे रहा हूँगा। वर्षों बाद, अगर कहीं, कभी सुस्वादु षडरस भोजन उपलब्ध हो जाता है तो मेरी यौगिक तन्मयता किसी सर्वोदयी-पूर्वोदयी के तोड़े नहीं टूटती। मैं एक सधे समाधिस्थ-सा लक्ष्य-वेध करता चला जाता हूं। यों यह बिहारी भाषा में हल्का-फुल्का जलपान था, जो सभा के आरम्भ होने की शुभ सूचना को सरस बनाने भर के लिए था। मेरा वजन ड्योढ़ा हो गया, जैनेन्द्र

जो पर रत्ती भर भी प्रभाव न पड़ा। राजधानी के भोजों में शायद इसीलिए इन्हें सरकार और जनता—दोनों के अतरग आमंत्रण अधिक झेलने पड़ते हैं, क्योंकि 'किसको दूं, किसको लौटाऊँ' वाले संकोच-वश इनके कहीं पहुंच जाने पर भी किसी को एक खाली प्लेट ही तो बढ़ाना पड़ता होगा।

हम मंच पर पहुँचे, तब वह पूरी तरह जनता के अधिकार में था। अक्ल की तलछट छलकाने पर एक बालिश्त जगह की गुंजाइश हुई। सामने सूनी-सी दृष्टि डालने पर जी भर आया कि इन्हीं नवल नट-नागरों को कपिल मुनि दर्शन और मनोविज्ञान की नयी-तुली भाषा में सांस्कृतिक-साहित्यिक सीख देंगे!

मैं अभी ताबड़तोड़ उन्हीं की तरफ से सोचे जा रहा था, मगर जमाना साधुता को सनक समझता है। होम करते हाथ जला। जैनेंद्र जी ने मेरी झुरती-झुरती-सी मति-गति पर बेदर्दी से ओले बरसा दिए। केसरी कुमार को कहा कि जब तक जानकीवल्लभ शास्त्री उन पर भरपूर न बोल लेंगे, वह उद्घाटन करने न उठेंगे।

मैं बगैर दायें-बायें देखे माइक को अपने बराबर ऊँचा उठा कर ऊँची टीप की आवाज में फूटा: जाने क्यों लोग-बाग जैनेंद्र को प्रेमचन्द के साथ याद करते हैं! प्रेमचन्द सरल थे, जैनेन्द्र जी सजग हैं; वह सहज थे, यह व्यवहार-कुशल; वह ठठा कर हँसते थे, इनकी हंसी को बारहों महीने, तीसों दिन जुकाम हुआ रहता है। कभी-कभार खुल कर हँसने की भी कोशिश करते हैं तो साहिर लुधियानवी के नग्मे 'आई, आई रे हँसी आई' की कसम, उनकी हँसी कहीं दांतों में उलझ कर, कट कर रह जाती है।

बहरहाल···एलियट की कविता को अकरकरे के काढ़े की तरह ज्यों-त्यों निगल जाने का ही इरादा न हो, उसे भले-भले गले के नीचे उतारना चाहते हों तो पहले उसके निबंध पढ़िए, लारेंस के नावेल की फ्लाइट गुमराह करती हो तो उसके निबंध पढ़िए। पांवों के नीचे से खिसकी हुई जमीन कुछ और सख्त हो कर पांवों के नीचे वापस आ जाएगी। जेम्स ज्वायस की तरह जैनेन्द्र दुरूह तो नहीं हैं, लारेंस की 'पोर्नोग्राफी' और 'आबसिनिटी' हिन्दी में नहीं है, 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' दूसरे-दूसरे से हैं। एक 'इंट्रोवर्ट' कलाकार की खासी

सधी कूची उन्हें भरसक सुबोध बनाने की कोशिश करती है, फिर भी मुश्किल मालूम होती हो तो जैनेन्द्र के निबंध पढ़िए। वक्ता और विचारक जैनेन्द्र, साहित्यकार जैनेन्द्र की किताब के शुरू और आखिरी के पन्ने हैं। फुलझड़ी के रंगारंग फूल और आतिशबाजी के तमाशे को किसी बारात का मकसद नहीं माना जा सकता। जैनेन्द्र जी की मोठी और तराशा हुई जबान फुसला-बहला कर हौले-हौले साहित्य की गहराइयों में उतार देती है कि जहां जिंदगी इनसाफ और मुरौवत के खेल खेलती होती है।

जैनेन्द्र विचारक जैसे भी हों, बुद्धिवादी उपन्यासकार नहीं हैं। वर्जीनिया वुल्फ की तरह इनके चरित्र लेखक के मस्तिष्क की ही उपज नहीं है। दोस्तोएव्स्की की तरह धक्के दे कर जीवन में गति नहीं पैदा करते। अहंकार की सामरिक उत्तेजना से उत्पन्न भाव स्थायी नहीं होता। जैनेन्द्र-साहित्य में समभाव और समवेदना का सम्प्रेषण हुआ है।

संकीर्ण राष्ट्रीयता के दायरे में जैनेन्द्र साहित्य घुट कर नहीं रह गया है। वह अशेष मनुष्यता को गम्भीरता और दृढ़ता से आश्लिष्ट करता है। एक हद तक 'सहभोक्तृत्व' उसकी चेतना की पहचान है।

व्यक्ति जैनेन्द्र विशिष्ट साहित्यकार जैनेन्द्र-जैसे सादे, सरल, सहज होते, गुजरों की मुसीबतों पर समवेदनाएँ बरसते, कड़ी-से-कड़ी आलोचनाओं के दहाने पर भी अपनी ही आस्था में जीनेवाले; तो सत्ता से बेतहाशा समादर न पाने पर भी वह टालस्टाय, चेखव, रोलां की कोटि में परिगणित होते···

एक समय नाट्यसम्राट पृथ्वीराज कपूर का ऐसा नशा चढ़ा था मुझ पर कि जब कोई विदेशी क्लासिक देखता- 'ए टेल ऑफ टू सिटीज', मैक-बेथ, हैमलेट, बेनहर, गुड अर्थ, टेन कमांडमेंटस् आदि, तो यही सोचता था कि ये तसवीरें हिन्दी में बनें तो इनके एकमात्र हीरो पृथ्वीराज कपूर ही हो सकते हैं। ठीक उसी प्रकार ला मिजरेबल, मादाम बावेरी, अन्ना केरेनिना, टेस, युलिसेस आदि पढ़ते समय बार-बार मेरे मन में यह भाव आता था कि हिन्दी में ह्यूगो, हार्डी या टालस्टाय हो सकते तो जैनेन्द्र ही होते ..

ग़ज़ल

धूप दुपहर की मुख्तसर-सी थी,
रात भर मैंने चाँदनी पी थी !

किन अँधेरों में नजर चुँधियाती,
चौंध हर सिम्त राशनी की थी !

दिन दिखाएगा सत्य की आभा ?
जिन्दगी रात की कहानी थी ?

होता मुखड़ा तेरा, मेरा दर्पण,
लौ जमा कर रही सियाही थी !

जीत बुल्लों की ? रूप पर हो फिदा ?
मेरी कोई लहर न हारी थी !

शम्मा जलती थी, जला परवाना;
क्या तमन्नाए जिन्दगानी थी !

कौम को ऊँचा उठाने में गिरा,
उसकी हर बात अमरवाणी थी !

फ़िक्र क्यों हो न सनमखानों की ?
एक बुत मैंने भी बढ़ा दी थी !

कौन पत्थर न गल-पिघल के बहा,
किसकी दुनिया न आनी-जानी थी !

धूप होगी न, छांव क्या होगी ?
किस भगोड़े की ली तलाशीं थी !

मौत बेमौत मर गई होती,
मैंने ही उसकी जिन्दगी दी थी !

★

● शास्त्रीजी संस्कृत और हिन्दी के अप्रतिमेय विद्वान् हैं। मस्तिष्क और हृदय दोनों की अक्षय विभूति शास्त्रीजी को प्राप्त है और इन दोनों के सुखद समासञ्जन ने इनके गद्य-पद्य-साहित्य को जो अनिन्द्य सौन्दर्य दिया है उसके निर्माता के रूप में शास्त्रीजी स्वयं साहित्य की विभूति बन गये हैं।

● शास्त्रीजी कविताएँ अच्छी लिखते हैं या लघु गीत, कहानियाँ अच्छी लिखते हैं या संस्मरण, आलोचनाएँ अच्छी लिखते हैं या प्रकीर्ण निबंध, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर वही व्यक्ति दे सकता है जिसने अपने ईमान को बेचा नहीं है, साहित्य की पवित्रता में अटूट आस्था रखता है और पहले अपने को अच्छी तरह तोल लेता है तब अपनी वाणी को खुलने देता है।

● शास्त्रीजी ने संपूर्ण अपने को, अपने भीतर की वाड़व-ज्वाला को अपनी रचनाओं में उझल दिया है ऐसे ही महाभाग कवि की रचनाओं में ऊँचाई और गहराई, विराटता और विशदता, स्निग्धता और संगीतात्मकता एव रूप और भाव की एक ही साथ अनोखी अनुभूति होती है।

● महाकवि केदारनाथ मिश्र प्रभात